हिन्दुत्व और इतिहास

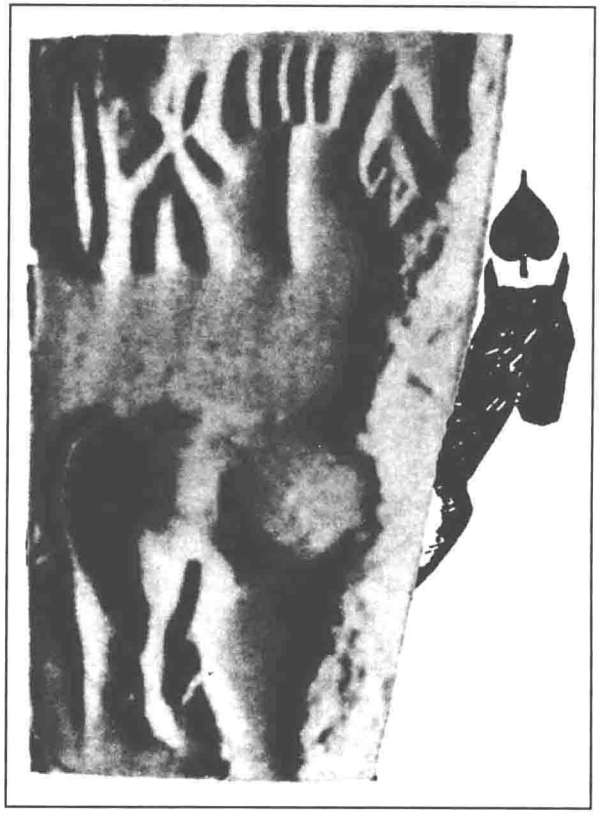

सिंधु सभ्यता के आर्यकरण की कोशिश

यह समय
7

Included in this PDF file of the Hindi translations are the original two articles from the 13 October 2000 issue of *Frontline:*

Michael Witzel and Steve Farmer, "Horseplay in Harappa: The Indus Valley Decipherment Hoax" (pp. 34-37 in the Hindi translation)

and

Romila Thapar's editorial on that article, "Hindutva and History" (pp. 3-6 in the Hindi translation).

In the following PDF file, a few typos in the Hindi translation (in the English web-page addresses) have been corrected.

The authors are not responsible for any errors in the translation, which they did not see before it went to press.

हड़प्पा में अश्व का नाटक

सिंधु सभ्यता की लिपि को पढ़ लेने का ढोंग

माइकेल वितजेल, भारत विद्याविद्, हार्वर्ड विश्वविद्यालय तथा
स्टीव फार्मर, तुलनात्मक इतिहासकार

पिछले ग्रीष्म काल में भारतीय प्रेस में कुछ सनसनीखेज खबरें छापी हैं जिनमें हड़प्पा अथवा सिंधु घाटी की लिपि को अंतिम रूप से पढ़ लिए जाने अथवा उसका अर्थ लगा लेने की घोषणा की गई है। जुलाई 11, 1999 की युनाइटिड न्यूज ऑफ इंडिया की विज्ञप्ति में, जो सारे दक्षिण एशिया में ग्रहण की गई, कहा गया था कि "विख्यात इतिहासकार एन.एस. राजाराम ने पुरालिपिवेत्ता डॉ. नटवर झा के साथ मिलकर दो हजार से अधिक हड़प्पा मुद्राओं को पढ़ लिया है और उन पर लिखित लेखों का अर्थ लगा लिया है।" इस जानकारी के संबंध में राजाराम तथा झा की भावी पुस्तक, *दि डिसाईफर्ड इंडस स्क्रिप्ट* में चर्चा किए जाने का आश्वासन दिया गया था। इंटरनेट पर यह खबर लगभग एक वर्ष तक गूंजती रही कि राजाराम तथा झा ने सिंधु घाटी के अभिलेखों के संपूर्ण संग्रह को पढ़ लिया है।

परंतु सिंधु घाटी सभ्यता (2600-1900 ई.पू.) की लिपि के पढ़ लिए जाने का यह कोई पहला दावा नहीं था। अमरीकी पुरातत्वविद ग्रीगरी पोशल ने अपनी 1996 में छपी पुस्तक में लिपि पठन की 35 कोशिशों की समीक्षा की है, जो वास्तविक संख्या का संभवतः एक तिहाई है। परंतु राजा राम और झा के दावे हाल के इतिहासकारों के दावों से कहीं अधिक आगे चले गए हैं। इनमें न केवल लिपि पढ़ने के सिद्धांतों को खोज लिया गया था, बल्कि अभिलेखों के संपूर्ण संग्रह को भी पढ़ा जा सकता था। इतना ही नहीं, राजाराम और उनके सहयोगी के ऐतिहासिक निष्कर्षों का पाठों द्वारा समर्थित माना जाना और भी अधिक असाधारण बात थी।

यू.एन.आई. का समाचार इस घोषणा से प्रेरित था कि राजाराम और झा ने न केवल सिंधु घाटी मुद्राओं को पढ़ लिया है बल्कि उन्होंने चौथी सहस्राब्दी ई.पू. के मध्य भाग के प्राक्-हड़प्पा लेखों को भी पढ़ लिया है। यदि यह प्रमाणित हो सके तो इसका मतलब निकलेगा कि उन्होंने मानव के प्राचीनतम साहित्यिक लेखन को पढ़ लिया है। ये थोड़े से चिन्ह पकी-मिट्टी के टुकड़ों पर उत्कीर्ण थे और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के पुराविद् रिचर्ड मीडो द्वारा हाल ही में खोजे गए थे।

राजाराम ने यू.एन.आई. को बताया कि इन में से सबसे पुराना वह लेख है जिसका अनुवाद "इला इस सौभाग्यशाली भूमि को घेरे हुए है" होगा। और वह ऋग्वैदिक सरस्वती की तरफ अप्रत्यक्ष परंतु निश्चित संकेत है। इससे ध्वनि निकलती है कि मानव का प्राचीनतम लेख भारत के प्राचीनतम धार्मिक ग्रंथ से संबंधित था।[1] यह कोई मामूली दावा नहीं था क्योंकि यह भारतविद्याविदों द्वारा ऋग्वेद को दिए गए काल को दो हजार वर्ष पुराना ठहराता है तथा हड़प्पा संस्कृति की प्रौढ़ अवस्था से एक हजार वर्ष पहले रखता है।

राजाराम की दुनिया

जनसंचार माध्यमों के महीनों चले धूम धड़ाके के बाद राजाराम तथा झा की, "दि डिसाईफर्ड इंडस स्क्रिप्ट"[2] नामक पुस्तक इस वर्ष के शुरू में नई दिल्ली में छप गई। गर्मियों के मध्य तक यह पुस्तक पश्चिम में पहुंच गई और इस पर यूरोप, भारत एवं संयुक्त राज्य में इंटरनेट पर बड़ी सरगर्मी के साथ बहस शुरू हो गई। इस पुस्तक ने लिपि की पठन विधि का श्रेय झा को दिया जो पश्चिमी बंगाल में फारक्का में प्रांतीय धार्मिक विद्वान थे और पहले से ज्ञात नहीं थे। पुस्तक के प्रचार ने उनके "विश्व के एक अग्रणी वैदिक विद्वान तथा पुरालिपि वेत्ता" होने का संकेत दिया। बताया गया है कि झा ने 20 साल तक एकांत में कार्य किया था और अपने काम पर 1996 में अंग्रेजी में 60 पृष्ठ की एक विचित्र पुस्तिका छापी थी। झा की पुस्तक पर राजाराम की, जो पहले से भारतविद्याविदों के बीच बदनाम थे, नजर पड़ गई। राजाराम ने पुस्तिका का अधिकतम भाग लिखने का श्रेय लेकर झा के गैर राजनैतिक संदेश का खूब राजनीतिकरण कर डाला। इंटरनेट पर राजराम की जीवनी में दावा किया गया कि उन दोनों का सामूहिक प्रयास" भारत के अतीत एवं संस्कृति के इतिहास में इस दौर की सबसे महत्वपूर्ण छलांग है।'

राजाराम के कार्य से वाकिफ तपे हुए भारतविदों को ऐसी डीगों से कोई अचरज नहीं होता। राजाराम 1980 के दशक में अमरीका में इंजीनियरिंग के प्रोफेसर थे। परंतु 1990 के दशक में उन्होंने अपने आप को हिंदुत्व के एक प्रचंड प्रचारक और "संशोधनवादी" इतिहासकार का नया रूप दे डाला। 1990 के दशक के मध्य तक वह इस स्थिति में आ गए कि भारत में तथा अमरीका के प्रवासी दायरों में अपने अनुयायी होने का दावा करने लगे। साधारण लोगों में अपनी छवि बनाने के लिए राजाराम ने अपने दावों का खूब लाभ उठाया जिनका उनके मामूली शोध के जीवन के साथ कोई संगति नहीं था। क्योंकि इतिहास की तरफ मुड़ने से पहले "वे अमरीका के कृत्रिम बोध और रोबोट (कृत्रिम मानव) विज्ञान में लगे जाने माने श्रमिकों में से एक थे"। व्यंगात्मक ढंग से "सत्य की तलवार" के नाम से वेबसाइट के खाते में दर्ज उनकी जीवनी में बड़बोलेपन की भरमार है। अमरीका स्थित हिंदुत्व प्रचार केंद्र राजारम को एक "वैदिक गणित के विश्वविख्यात विशेषज्ञ" एवं "ईसाई धर्म के आधिकारिक इतिहासकार" के रूप में पेश करता है। उनकी उग्र ईसाई विरोधी रचनाएं, जिन में "क्रिस्चिनिटीज कोलैप्सिंग एंपायर एंड इटस डिजाइंस इन इंडिया" नाम की पुस्तक शामिल है, इस अंतिम दावे का समर्थन करती हैं। राजाराम के आलेखों में "ऐतिहासिक कृष्ण की खोज" (सिंधु सभ्यता में प्राप्त 3100 ई.पू.); हिंदुत्व के दुश्मनों पर

आक्रमण जिन की लंबी सूची में ईसाई मिशनरी, मार्क्सवादी विद्वान, वामपंथी राजनीतिज्ञ, भारतीय मुसलमान और पश्चिमी भारतविद्याविद् शामिल हैं; तथा 1992 में भीड़ द्वारा बाबरी मस्जिद के गिराए जाने को "भारत का विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों और उनके प्रतिनिधियों के चंगुल से निकलने" के प्रतीक के रूप में महिमामंडित करना भी सम्मिलित है। राजाराम लिखते हैं कि भारत का संपूर्ण इतिहास राष्ट्रवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच संघर्ष के रूप में चित्रित किया जा सकता है।

भारतीय विद्याओं के ज्ञान में "औपनिवेशक-धर्म प्रचारकों द्वारा प्रतिपादित आर्यों के बाह्य आक्रमण का सिद्धांत" ही साम्राज्यवादी शत्रु है जिसे वे अब भी भारतीय विद्याविदों के साथ जोड़ रहे हैं जबकि इस अपुष्ट आक्रमण सिद्धांत को गंभीर शोधकर्ताओं ने काफी पहले ही सांस्कृतिक मिश्रण के अधिक परिष्कृत सिद्धांत से प्रतिस्थापित कर दिया है। भारतीय विद्या के अपने हास्यचित्र (कार्टून) को राजाराम "उस अध्ययन पद्धति से बदलना चाहते हैं जिसमें प्राचीन ज्ञान और वर्तमान विज्ञान सम्मिलित हों।" राजाराम "विज्ञान" का जो अर्थ लेते हैं उसका संकेत उनके एक लेख में मिलता है जिसमें ऋग्वेद के ऋषियों के ज्ञान का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार ऋग्वैदिक ऋषियों ने अपने मंत्रों को उच्च भौतिकी, (high energy physics); अपदार्थ, (anti matter), विश्वप्रसार सिद्धांत, (the inflational theory of the universe), प्रकाशगति (speed of light) परिगणन तथा पृथ्वी पर दिन में तीन बार आघात करने वाली गामा किरणों का विस्फोट जैसे रहस्यमय संकेतों से भर रखा है सबसे अंतिम संकेत को अग्निदेव को संबोधित ऋग्वेद के तीन मंत्रों (3.56.6, 7.11.3, व 9.86.18) ने दर्शाया है। राजाराम ने दूसरे मंत्र का अनुवाद इस प्रकार किया है "हे अग्नि! हम जानते हैं कि आपके पास मनुष्यों को दिन में तीन बार देने के लिए धन है।"

राजाराम ने पहले हिंदुत्व पर एक लेख डेविड फ्राले के साथ 1995 में लिखा था। "न्यू एज" लेखक डेविड फ्राले एक पाश्चात्य विद्वान हैं जो ऋग्वेद में अमरीकी इंडियंस के संकेत खोजना पसंद करते हैं। "सत्य की तलवार" नामक अपनी जीवनी में राजाराम ने फ्राले को एक "प्रसिद्ध अमीरकी विद्वान एवं इतिहासवेत्ता" के रूप में परिवर्तित कर दिया है। राजाराम एवं फ्राले द्वारा लिखी पुस्तक एक विचित्र मत प्रतिपादित करती है कि ऋग्वेद एक मिश्रित, नगरीय एवं समुद्रीव्यापार से जुड़ी सभ्यता की उपज था, न कि घोड़े एवं रथ वाली आदिम संस्कृति का जैसा कि ग्रंथ में दीख पड़ता है। उनका लक्ष्य ऋग्वेद को पूर्ववर्ती सिंधुघाटी सभ्यता से जोड़ना है ताकि बाद में "आर्यों" के स्थानांतरण या ऋग्वेद के "विदेशी" भूमि पर स्थापित करने की किसी संभावना को काटा जा सके। प्रचुर (परंतु लुप्त) हड़प्पा के साहित्य पर काम करने से लगता है कि पश्चिम भारत ही सभ्यता का मुख्य स्रोत था।

विभिन्न उपकरणों के माध्यम से "दि डिसाईफर्ड इंडस स्क्रिप्ट" ऐसे ही दावे करती है। सिंधु सरस्वती घाटी फिर से ऋग्वेद का आवास और उच्च सभ्यता का मूल स्त्रोत बन जाती है; बेबीलोन व यूनान के गणित, सभी वर्ण लिपियां, यहां तक कि रोमन संख्याएं विश्व में सिंधु घाटी के असीम उर्वर सांस्कृतिक गर्भ से ही प्रसारित होती हैं। प्रैस विज्ञप्तियां "अपने समय की

ऐतिहासिक खोज की सबसे महत्वपूर्ण तकनीकी समस्या के समाधान" - सिंधु लिपि के पठन के लिए नहीं अपितु यह दिखलाने के लिए भी इस ग्रंथ की सराहना करती है कि "यदि सभ्यता का कोई जनम स्थान था तो वह सरस्वती घाटी में स्थित था न कि मेसोपोटामिया में।" इस प्रकार हड़प्पा संस्कृति के लेखों के पठन ने हिंदुत्व के प्रचारकों के उन्मादी राष्ट्रीय स्वप्न को पुष्ट किया है।

राजाराम का "पिल्टडाऊन घोड़ा" (घोड़े का छल)

जैसी आशा थी, भारत विद्याविदों ने राजाराम की पुस्तक के छपने से पूर्व की प्रसिद्धि को उत्सुकता एवं संदेह के मिले जुले रूप में देखा। जैसे ही पुस्तक पश्चिम में पहुंची इंटरनेट पर इस विषय के संबंध में सजीव बहस खड़ी हो गई कि आया लुप्त हो गए अति विशाल साहित्य को छोड़कर, जिसका राजाराम ने दावा किया है, हड़प्पा संस्कृति में *कोई भी* ठोस मूल पाठ मौजूद थे। सिंधु घाटी के लेख अति बीज रूप में हैं तथा लिपि में विकासशील परिवर्तन के शायद ही कोई चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। अधिकतम अभिलेख चार या पांच अक्षरों से अधिक लंबे नहीं है। अनेक में दो या तीन अक्षर ही है। पुनः प्राचीन मेसोपोटामिया, मिस्र या चीन के विपरीत प्रौढ़ हड़प्पा काल में अक्षरों का आकार आश्चर्यजनक रूप से ठहर सा गया दीख पड़ता है। इससे संकेत मिलता है कि लिपि में सरलीकरण करने के "लेखकीय दबाव" का अभाव था जो बार-बार लंबे लेखों की नकल उतारने से पैदा होता है। यदि यह सही है तो सिंधु लिपि कभी भी लेखन की सरल विधा के प्राथमिक रूप से आगे विकसित हुई मालूम नहीं पड़ती।

वास्तव में राजाराम की पुस्तक जब एक बार पढ़ ली गई तो भारत विद्याविदों का शुरू का संदेह अविश्वास की झल्लाहट में बदल गया और फिर लगे छल कपट के आरोप लगने। यह शीघ्र ही साफ हो गया कि झा और राजाराम की विधियां इतनी लचीली थीं कि इन लेखों में वस्तुतः कोई भी इच्छित पाठ पढ़ा जा सकता था। एक भारत विद्याविद ने दावा किया कि इस प्रकार की विधियों का इस्तेमाल करके वह सिद्ध कर सकता है कि अभिलेख पुरानी नोर्स या पुरानी अंग्रेजी में लिखे गये हैं। दूसरों ने इस तथ्य की तरफ इशारा किया कि पढ़े गये लेखों में बार-बार हड़प्पा एवं वैदिक संस्कृतियों के बीच की वे "लुप्त कड़ियां" ही पाई गई जो राजाराम के हिंदुत्ववादी इतिहास संशोधन को पुष्ट करती हैं। संस्कृत भाषा के अस्तित्व में आने से कोई 2000 वर्ष पूर्व ही हड़प्पा की भाषा के "उत्तर वैदिक" संस्कृत होने की घोषणा कर दी गई। लेखों के पढ़ लिए जाने की कल्पना के आधार पर ही घोड़ा रहित सिंधु घाटी सभ्यता जो इसे ऋग्वेद की संस्कृति से स्पष्टतया भिन्न करती है, घोड़ों से, घोड़ा पालकों से, यहां तक कि घोड़ा प्रशिक्षकों से पोत दी गई। अपने दावे की पुष्टि करने के लिए राजाराम ने एक धुंधली आकृति के "अश्व मुद्रा" होने का संकेत किया जो हड़प्पा में घोड़े के कभी पाए जाने के दावे का पहला चित्र ही होगा।

फिर सब कुछ उथल-पुथल हो गया। कुछ सप्ताहों के अंदर ही हम दोनों ने प्रमाणित कर दिया कि राजाराम की "अश्व मुद्रा" एक छल था जिसे एक टूटी हुई "एक सींग वाले बैल" की मुद्रा को कम्प्यूटर द्वारा तोड़ मरोड़ कर गढ़ा गया था। इसका नतीजा था कि भारत विद्याविदों ने इसे सिंधु घाटी का "पिल्ट डाऊन घोड़ा" कहना शुरू कर दिया जो 20वीं सदी के शुरू में "पिल्ट डाउन मैन" की

तथाकथित खोज की तरफ व्यंगात्मक संकेत था। यह तुलना थी बड़ी उपयुक्त क्योंकि "पिल्ट डाऊन मैन" को भी वानर तथा मानव के बीच की लुप्त कड़ी को भरने के लिए ही बनावटी ढंग से रचा गया था, जैसे राजाराम की "अश्व मुद्रा" हड़प्पा और वैदिक संस्कृतियों के बीच की खाई को भरने के इरादे से गढ़ी गई है।

एक बार जब ढोल की पोल खुल गई तो ऐसे किसी व्यक्ति को 1000 डालर देने की पेशकश कर दी गई जो सिंधु सभ्यता की खोज में संलग्न एक भी ऐसा व्यक्ति ढूंढ दे जो राजाराम की "अश्व मुद्रा" को अनुमोदित करता हो, परतु इस पेशकश को कोई स्वीकार करने वाला नहीं मिल सका।

"पिल्ट डाउन घोड़े" की कहानी का अपना एक हास्यास्पद पक्ष है परंतु यह भारतीय इतिहास की केंद्रीय समस्या को छूता है। घोड़ा वैदिक सभ्यता के लिए महत्वपूर्ण बिंदु था, जैसा कि हम वैदिक साहित्य में घोड़े को बलि, घोड़ा चुराने के लिए हमले एवं लड़ाईयां जिनमें घोड़ों द्वारा खींचे जाने वाले रथ इस्तेमाल किए जाते थे - जैसे वर्णनों में देखते हैं। यदि ऋग्वैदिक संस्कृति (जो सामान्यतया द्वितीय सहस्राब्दी ई.पू. के उत्तरार्द्ध काल की है) को हड़प्पा संस्कृति के साथ घालमेल करना हो तो भारत में तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में पालतू घोड़ों के व्यापक उपयोग का प्रमाण मिलना निर्णायक बिंदु होगा। राजाराम जैसे हिंदुत्व के "संशोधनवादी" जो ऋग्वेद को चौथी अथवा पांचवीं सहस्राब्दी ई.पू. में धकेल रहे हैं, समस्या को और भी जटिल बना देते हैं। इस समस्या के समाधान के लिए उन्हें विश्व में कहीं भी विद्यमान होने से हजारों वर्ष पूर्व दक्षिण एशिया में पालतू घोड़े एवं रथ खोजने होंगे।

प्रमाणों से संकेत मिलता है कि घोड़ा (इक्कस कैबेलस) भारत में लगभग 2000 अथवा 1700 ई.पू. तक नही था। पुरातत्व, सिंधु के मैदान में बोलान दर्रा के नीचे, पहली बार उसकी मौजूदगी को प्रमाणित करता है। घोड़ा अर्ध शतोष्ण कटिबंध का मैदानी जानवर हैं मध्यपूर्व में तीसरी सहस्राब्दी ई. पू. के अंत तक इसका कोई उल्लेख नहीं हुआ था। यह पहली बार सुमेर की भाषा में औशेकुर (पहाड़ी गधा) या औशे जी जी (तेज घोड़ा) के रूप में उपलब्ध होता है। घोड़ों से पहले निकट पूर्व में केवल मात्र इक्विड़ गधा एवं अर्धगधा (हेमियोन, ओनेगर) ही थे। वे लगभग ट्रेनिंग के अयोग्य होते हैं तथा कुछ-कुछ घोड़े जैसे लगते हैं और उनके साथ परस्पर प्रजनन कर सकते हैं जैसे गधे कर सकते हैं। भारत में केवल एक इक्विड़ था जो घोड़े से पहले जाना जाता था। कुछ एक नमूने कच्छ की खाड़ी में अब भी बचे हुए हैं।

पुरानी दुनिया में पालतू घोड़े का होना हलके रथों के विकास से निकट से संबंधित था जिनकी ऋग्वेद में केंद्रीय भूमिका थी। रथों के सबसे पुराने पुरातात्विक अवशेष यूराल पहाड़ के पूर्व व पश्चिम में 2000 ई.पू. में हैं। निकटपूर्व में इनके प्रयोग कुछ देर बाद चित्रों एवं लेखों से प्रमाणित होते हैं। पंद्रहवीं सदी ई.पू. के मिस्र का एक श्रेष्ठ नमूना (फलोरेंस, इटली में) साबुत बचा हुआ है। दूसरे बारहवीं सदी के चीन के मकबरों में देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार के रथ उच्च तकनीकि द्वारा निर्मित थे। मिस्र के रथों के डंडे एल्म (elm) लकड़ी के बने थे। पहियें के बाहरी चक्र ऐश (ash) लकड़ी के बने

थे। इसके धुरी तथा अरे सदाबहार ओक (oak) लकड़ी के बने थे और इसके अरों के बंध बर्च (birch) वृक्ष की छाल के थे। इनमें से कोई भी पेड़ अरमेनिया के दक्षिण में निकट पूर्व में नहीं पाया जाता जिसका मतलब है कि यह सामग्री उत्तर से आयात की जाती थी। मिस्र का रथ वजन में केवल 30 किलो के आसपास था और यह उन धीमे व भारी-भरकम बैलों वाली गाड़ियों का एक छोटा अंशमात्र था जो 500 किलो या अधिक वजन वाली थीं और जो पहले पहियों वाले मुख्य वाहन थे। लगभग 3000 ई.पू. से ज्ञात ये वाहन वैसे ही थे जैसे कि आज भी भारत के देहात में कुछ हिस्सों में देखे जा सकते हैं।

इस सब का यही नतीजा निकलता है कि यह दावा मात्र खींचातानी है कि घोड़े और रथ सिंधु घाटी में तीसरी सहस्राब्दी ई.पू. में पाए जाते थे। राजाराम जैसे लेखकों के लिए यह कोई समस्या है ही नहीं जो ऋग्वेद को चौथी सहस्राब्दी ई.पू. के शुरू में या पांचवीं सहस्राब्दी ई.पू. में होने का ही अनुमान लगाते हैं। जो केवल रथों की ही नहीं अपितु किसी भी पहिएदार वाहन के होने से बहुत पहले की बात है। हंगरी के पैलियनटोलोजिस्ट, स्वर्गीय एस. बोकोनी, जिन्होंने सोचा था कि उन्होंने सूरकोटडा नामक सिंधु स्थल से घोड़े की अस्थियों को पहचान लिया है, ने भी इनके दक्षिण एशिया के स्वदेशीय होने से मना कर दिया है। वे लिखते हैं कि "घोड़े भारतीय उपमहाद्वीप में पहले पहल पालतू रूप में पहुंचे थे। वे एशिया के भीतरी भागों में घोड़ा पालने के केंद्रों से आए थे।" हार्वर्ड के रिचर्ड मीडो भी, जिन्होंने हड़प्पा के प्राचीनतम लेख खोज निकाले थे राजाराम (जिसे पढ़ लेने का दावा करते हैं) सूरकोटड़ा के प्रमाण का खंडन करते हैं। एक युवा भारतीय विद्वान अजीत के. पटेल के साथ मिलकर लिखे लेख में मीडो तर्क देते हैं कि एक भी घोड़े की हड्डियों का स्पष्ट उदाहरण सिंधु के उत्खननों (excavations) या उत्तर भारत में कहीं और भी 2000 ई.पू. से पहले प्राप्त नहीं है। विरोधी दावे ऐसे प्रमाणों पर आधारित हैं जो खाइयों, बह कर बने ढेरों, गड्ढों या घोड़ों की कब्रों से मिले हैं तथा सिंधु सभ्यता से सैकंडों या कहिए कि हजारों वर्ष बाद के हैं। पूर्ववर्ती हड़प्पा के पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा 1930 के दशक में "घोड़ों" के अवशेषों का ठीक-ठीक रिकार्ड नहीं किया गया था जिससे कि हम घोड़ों, हेमियोन या गधों के बीच अंतर करने में समर्थ हो पाते।

यह सब राजाराम के लिए घोड़ा लेखों और "अश्व मुद्रा" की जरूरत का स्पष्टीकरण कर देता है। यदि यह प्रमाण सच्चा है तो यह सारी पुरानी दुनिया के इतिहास के बारे दोबारा सोचने की बड़ी शुरूआत कर देगा। राजाराम अपनी आदत के अनुसार खंडनमंडन शैली में लिखते हैं:

> "अश्व मुद्रा" यह दिखलाती है कि बार-बार दोहराया जा रहा यह दावा पूर्ण रूप से आधारहीन है कि "हड़प्पा में कोई घोड़ा नहीं था।" घोड़े की हड्डियां हड़प्पा के टीलों में हर स्तर से पाई गई हैं। इसके अलावा "अश्व" शब्द मुद्राओं पर आमतौर पर लिखा मिलता है। हड़प्पा संस्कृति के घोड़ाविहीन होने की कल्पना एक हठधर्मिता है। प्रमाणों द्वारा इसका भंडाफोड़ कर दिया गया है। परंतु इसी के भाईबंद आर्य आक्रमण के सिद्धांत की तरह यह सिद्धांत भी बिना किसी प्रमाण एवं गहर समझ के अब भी प्रचलित है"।

राजाराम का "घोड़ा" जो अधिकतम लोगों को मृग जैसा दिखाई देता है, एक बुरी तरह से विकृत चित्र है जो हड़प्पा के एक उत्केरित लेख के नीचे "कलाकार द्वारा बनाई गई घोड़े की प्रतिलिपि" के पास छपा है।[1] इस चित्र का मूल स्त्रोत है मैके 453, जो एक छोटा सा चित्र है। यह अरनेस्ट मैके की "फर्दर एक्सकेवेशन्स ऑफ मोहनजोदड़ो", (नई दिल्ली, 1937-38) के वॉल्युम 2 में प्लेट 95 पर है। इस चित्र का ढूंढ पाना आश्चर्य रूप से कठिन था क्योंकि राजाराम की किताब यह नहीं बताती कि यह मैके के किस पुरातात्विक ग्रंथ में दिया है जबकि उनमें हजारों चित्र दिए हैं। इस फोटो को और इससे संबंधित अन्य चित्रों को खोजने में विश्व की दो सर्वश्रेष्ठ शोध लाइब्रेरियों में, जो एक दूसरी से 3000 मील की दूरी पर संयुक्त राज्य में स्थित हैं, साधनों के समन्वयन की जरूरत थी।

एक बार जब मूल चित्र मिल गया और इंटरनेट पर उसकी बिगाड़ी हुई तस्वीर से मिला लिया गया तो राजाराम ने यह कह दिया कि "अश्व मुद्रा" तो "कम्प्यूटर का परिवर्धित रूप" है जो उन्होंने और झा ने "अपने पठन को सुविधाजनक बनाने के लिए" प्रस्तुत किया था। परंतु वे अब भी दावा करते हैं कि मुद्रा "घोड़े" को दर्शाती है। इस से इंकार करना अनर्थकारी होगा, क्योंकि ऐसा करना उनके द्वारा मुद्रा लेख के पठन को अस्वीकारना होगा जिसमें उनके अनुसार "घोड़ा" शब्द शामिल है।

मैके के मूल फोटो को देखते ही स्पष्ट हो जाता है कि राजाराम की "अश्व मुद्रा" केवल (एक सींग वाले) बैल की टूटी हुई मुद्रा है जो मोहनजोदड़ो से पाई गई मुद्राओं में सबसे अधिक मिलने वाली आम मुद्रा है। संदर्भ में देखने से इसकी पहचान और भी स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि उसी पृष्ठ पर दो दर्जन से अधिक एकशृंगी बैलों वाले फोटो हैं। यदि ठीक उसी जगह से टूट जाए तो इनमें से कोई भी मुद्रा एक अच्छी "अश्व मुद्रा" बन सकती है।

राजाराम के "कम्प्यूटर परिवर्द्धन" में जो हिरन की "गर्दन" और "सिर" जैसा दिखाई दे रहा है वह महज विभ्रम है जो टूटे हुए भाग तथा लेख के ऊपरी दक्षिणी भाग की विकृति मात्र है। ज्यूंही हम मूल चित्र को देख लेते हैं तो यह संकेत तुरंत गायब हो जाता है कि मुद्रा पर पूरा पशु दिखाया गया है। राजाराम की पुस्तक में इस तथ्य का भी कोई जिक्र नही है कि मुद्रा टूटी हुई है। "कम्प्यूटर द्वारा संवर्द्धन" से निश्चित तौर पर यह नहीं पता चलता कि मुद्रा टूटी हुई है।

राजाराम की जाली "अश्व मुद्रा" अस्पष्ट है क्योंकि वह ग्रंथ जिसमें मूल मौजूद है अपेक्षाकृत दुष्प्राप्य है और राजाराम की पुस्तक में उसका ठीक से संदर्भ नहीं दिया गया है। मुट्ठी भर शोध करने वाले ही खुशकिस्मत होंगे जिन के पास सही प्रकार के स्रोत उपलब्ध हों वे ही इसे ढूंढ सकते हैं। अहमदाबाद में स्थित राजाराम के साधारण पाठक या वे भारतीय विद्याविद् भी जो अधिक विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों का ही उपयोग करते हैं राजाराम के साक्ष्यों को नहीं परख पाएंगे। जब हम प्रमाण को और ध्यान से देखते हैं तो मूल मुद्रा का स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है। अब यह पता चल गया है कि मैके 453 किसी मुद्रा का चित्र है ही नहीं जैसा कि राजाराम का दावा है। यह तो एक आधुनिक

मुद्रांक (मिट्टी पर मुद्रा की छाप फील्ड नं. डी.के. 6664) है जो मोहनजोदड़ो से 1927-31 के बीच खोद निकाली गई थी। हमने "कार्पस ऑफ इंडस सील्स एंड इंसक्रिप्शन्स (वाल्युम II: हेलसिंकी 1991, पृष्ठ 63) नामक अपरिहार्य पुस्तक में मूल मुद्रा का एक स्पष्ट चित्र ढूंढ निकाला है जिससे मुद्रांक बनाया गया था। उसकी पहचान डी.के. 6664 से कर ली गई है। यह पुस्तक प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद् अस्को परपोला के समन्वयन में भारतीय एवं पाकिस्तानी पुरातत्ववेत्ताओं ने छापी थी। डॉ. परपोला के व्यक्तिगत पत्र के अनुसार यह चित्र विशेष रूप से 1991 की पुस्तक के लिए पाकिस्तान में जिकी लीतिका द्वारा लिया गया था।

मूल मुद्रा को देखने वाले किसी भी अन्य व्यक्ति के समान परपोला ने लिखा है कि राजाराम की "अश्व मुद्रा" मात्र एक टूटी हुई एकशृंगी बैल की मुद्रा है जो मोहन्जोदड़ो में प्राप्त अनेक नमूनों में से एक है। भारत में सिंधु लिपि के अग्रगण्य विशेषज्ञ ईरावतम महादेवन ने भी राजाराम से यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है। राजाराम ने बिना नाम लिए हुए अपनी पुस्तक में महादेवन का सुप्रसिद्ध द्रविड विद्याविद् के रूप में उल्लेख किया है जिन्होंने उन्हें यह बात स्पष्ट की थी। परंतु राजाराम का आग्रह है कि "एकशृंगी और घोड़ा इन दोनों प्राणियों की विशेष रूप से उनके प्रजनन क्षेत्र की, तुलना उपर्युक्त (एक शृंगी बैल की) धारणा को झुठला देती है।" राजाराम ने इंटरनेट पर यह भी दावा किया है कि पशु की "झाड़ू जैसी पूंछ" उस का घोड़ा होना सिद्ध करती है।

हमने लीतिका द्वारा खींचे गये मूल मुद्रा के स्पष्ट चित्र की प्रतिलिपि दी है और सात दशक पुराने (मैके 453) उस मुद्रांक के चित्र के साथ तुलना की गई है जिस के बारे में राजाराम "अश्व मुद्रा" होने का दावा करते हैं। हमने मूल मुद्रा का समतल चित्र लिया है ताकि मुद्रा और मुद्रांक की तुलना की जा सके। पशु की पूंछ वस्तुतः रस्सीनुमा पूंछ है जो मोहनजोदड़ो में एकशृंगी बैल वाली मुद्राओं से संबंधित है (जैसा कि तस्वीरों से देखा जा सकता है)। यह स्पष्टतया "झाड़ूदार" दुम नहीं हैं जो राजाराम के मस्तिष्क में है - हालांकि राजाराम की कहानी निश्चित रूप से "झाड़ूदार" दुम वाले अश्व की कहानी है।

जहां तक राजाराम के "प्रजनन क्षेत्र" के दावे की बात है, हम देखते हैं कि एम. 772 ए अथवा मैके 453 में कोई प्रजननिक अंग नहीं मिलते - जिस का सरल कारण है कि एकशृंगी बैल वाली मुद्रा में प्रजननिक अंग ठीक उस जगह स्थित होते हैं जहां से मुद्रा टूटी है। जब हम अन्य एकशृंगी मुद्राओं अथवा उनके मुद्रांकों (ठप्पों) को देखते हैं तो यह बात और साफ हो जाती है। पर्पोला एम. 1034 ए एक ऐसा मुद्रांक है जिसकी राजाराम की "अश्व मुद्रा" से बड़ी समानता है, समेत उन दो अक्षरों के जो उसकी मुद्रा के लेख के बाई तरफ हैं। यह मुद्रा भिन्न स्थान से टूटी है जिससे उसके दाहिनी तरफ का लेख खत्म हो गया है परंतु उसके प्रजननिक अंग ज्यूं के त्यूं मौजूद हैं। इस मुद्रांक पर हम "एकशृंगी" बैल के प्रजननिक अंग को स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं जिसे सीधे नीचे लटकते लंबे "गुच्छे" से पहचाना जा सकता है। प्रजननिक अंग वहीं पर स्थित हैं जहां राजाराम की "अश्व मुद्रा" में पाए जाते यदि वह टूटी नहीं होती।

एक शृंगी बैल वाले दूसरे मुद्रांक जैसा कि पर्पोला एम-595 है यदि उसी जगह से टूटे होते तो आश्चर्यजनक "अश्व मुद्राएं" बना सकते थे। दुर्भाग्यवश

पर्पोला एम-595 ए मुद्रांक टूटा हुआ नहीं है, जो यह तथ्य उद्घाटित करता है (जैसे सिंधु की अधिकतम मुद्राओं में) कि यह किसी असली पशु को नहीं बल्कि मिथकीय पशु को निरूपित करता है (और वास्तव में न तो इस की ओर न ही किसी अन्य एकशृंगी की झाड़ूदार पूंछ है)।

एक रूसी भारतविद्याविद् यारोस्लाव वसिलकोव ने राजाराम की "कम्प्यूटर से परिवर्धित" मुद्रा में एक संदेहास्पद विवरण की तरफ संकेत किया है जो किसी भी मुद्रा अथवा मुद्रांक के फोटो में नहीं मिलता। पशु के एकदम सामने एक छोटी सी वस्तु है जो पशु वाली मुद्राओं में एक "खाने वाली कूंड" की सामान्य प्रतिमा का रूप है जो कुछ हद तक एक पुराने स्टाइल के टेलीफोन जैसा लगता है। यह "अश्व मुद्रा" की विकृत तस्वीर में किस ने घुसेड़ा, इस का पता नहीं। राजाराम ने इस संबंध में प्रश्नों का कोई जवाब नहीं दिया।

हम राजाराम का "कम्प्यूटर परिवर्द्धन" दिखाते हैं जो मोहनजोदड़ो की ताम्र प्लेटों के चित्रों के बगल में है जिन में उस वस्तु के कई रूप दिए हैं।

उत्तर वैदिक संस्कृत - निश्चित तिथि से 2000 वर्ष पूर्व की कल्पना

घोड़े वाली मुद्रा (अश्व मुद्रा) तो राजाराम की पुस्तक में काल्पनिक तथ्यों का केवल एक उदाहरण है। उनके लिपि पठन संबंधी अन्य तथ्यों की वास्तविकता जानने के लिए वैदिक संस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। राजाराम अपने साधारण पाठक में वैदिक संस्कृत के ज्ञान की अपेक्षा नहीं करते क्योंकि (इस दिखावे के बावजूद) पुस्तक का लक्ष्य विद्वान नहीं बल्कि साधारण भारतीय श्रोता हैं यह आडंबर कि यह पुस्तक शोधकर्ताओं के लिए है (जो इस प्रपंच से परिचित हैं) मात्र साधारण पाठकों को यह (झूठा) विश्वास दिलाने के लिए है कि राजाराम एक गंभीर ऐतिहासिक विद्वान हैं।

लिपि पठन का मामला दर्शाता है कि राजाराम क्यों अपनी "अश्व मुद्रा" के मत को बचाने में लगे हुए हैं जबकि अपने समर्थक बहुत पहले इस मत का खंडन करने के लिए कह चुके हैं। परंतु उनके विकल्प सीमित हैं क्योंकि उन्होंने अपने "पिल्ट डाउन हॉर्स" को अपनी लिपि पठन विधि के साथ स्थायी रूप से जोड़ लिया है। उनके अनुसार "घोड़े" के ऊपर उत्कीर्ण लेख का पाठ (कुछ व्याकरण विरुद्ध होते हुए) - "अर्को हस्व अथवा अर्को ह अश व" - "सूर्य वस्तुतः घोडे जैसा" हैं यह पाठ एकदम निरर्थक हो जाएगा यदि आकृति एक सींग वाले बैल को दर्शाती हो। राजाराम का दावा है कि इस पठित लेख और उत्तर वैदिक धार्मिक ग्रंथ शुक्ल यजुर्वेद के बीच संबंध है। ऐसा मानने पर ऋग्वेद, जो कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से उस ग्रंथ से पर्याप्त प्राचीन है, और भी हास्यास्पद प्राचीन काल में पहुंचा दिया जाता है। जैसा कि हम देख चुके हैं राजाराम का दावा है कि हड़प्पा की भाषा "उत्तर वैदिक" संस्कृत थी। यह मत पुरातत्व, भाषा विज्ञान तथा अन्य क्षेत्रों के अनेक तथ्यों से मेल नहीं खाता। वास्तम में उत्तर वैदिक भाषा प्रौढ़ हड़प्पा संस्कृति के उद्भव के पश्चात् लगभग 2000 वर्षों तक अस्तित्व में ही नहीं आई थी।

आइये हम थोड़ा भाषा विज्ञान के प्रमाणों को देखें। इन में से कुछ तकनीकी तो हैं फिर भी उपयोगी हैं, क्योंकि ये दर्शाते हैं कि प्राचीन भारत के इतिहास के

विभिन्न काल खंडों की तिथियों का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है।

ऋग्वेद घोड़ों के, घोड़ों की दौड़ों के और अराचक्र वाले तीव्र गति रथों के वर्णनों से भरा हुआ है। हम यह पहले देख चुके हैं कि इनमें से कोई भी पुरानी दुनिया में कहीं भी लगभग 2000 ई.पू. तक विद्यमान नहीं थे। अधिकांश स्थानों पर वे काफी समय बाद तक भी नहीं दिखाई दिए। रथों और घोड़ों का प्रचलन ऋग्वेद की प्राचीनतम संभावित तिथियों का एक संकेत चिन्ह है।

भाषा विज्ञान के प्रमाण और भी चिन्हों को दर्शाते हैं। प्राचीन ईरान तथा वैदिक भारत दोनों ही में वाहन को रथ कहते थे जो कि पहिए के लिए प्रागैतिहासिक (पुनर्निर्मित भारोपीय भाषा में शब्द "रोथ ओ" (लेटिन रोता, जर्मन राद) था (रोथ ओ अर्थात् चक्र = वाहन ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार आधुनिक बोलचाल की भाषा में "मेरे पहिए" = "मेरी गाड़ी" के अर्थ में प्रयोग करे हैं)। ईरानी और वैदिक भाषा में भी रथचालक के लिए समान शब्द मिलते हैं। वैदिकी का रथेष्ठा अथवा प्राचीन ईरानी के रथेष्टा का अर्थ "रथ पर खड़ा हुआ" है। जबकि भारोपीय में जो कि वैदिक संस्कृत और अधिकांश यूरोपीय भाषाओं की पूर्वज है - रथ के लिए कोई शब्द नहीं हैं यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि बहुत सी यूरोपीय भाषाओं में वाहन के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग मिलता है। उदाहरण के लिए ग्रीक में रथ को हरमत (ओस) कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि प्राचीन ईरानी और वैदिकों में रथ के लिए शब्द लगभग 2000 ई.पू. के आसपास प्रयोग उस समय में आया, जब रथ पहली बार बना। परंतु यह घटना इन भाषाओं के दो शाखाओं में बंटने से पूर्व की है। यह अनुमान सर्वथा उचित है कि रथ रूस एवं कजाकिस्तान के मैदानी क्षेत्र में बना, जिसमें रथों के प्राचीनतम अवशेष प्राप्त हुए हैं। वह क्षेत्र किलासिकी काल में ईनानी भाषी रहा था। यह तथ्य आज भी उत्तर की नदियों के नामों में झलकता है जो कि दन्यूब, दोन, दनेस्तर, दनयेपर तथा उराल (रहा = वैदिक रसा) से ले कर ओक्षस (वख्श) तक सारे क्षेत्र में फैली हैं।

ये उस तथ्य के कुछ ही प्रमाण हैं जिस के बारे में भाषा वैज्ञानिक पिछले 150 सालों से जानते हैं - कि वैदिक संस्कृत दक्षिण एशिया की मूल भाषा नहीं थी अपितु उससे घनिष्ट रूप से संबद्ध प्राचीन ईरानी की ही तरह बाहर से आई थी। इन भाषाओं के सामान्य रूप से मान्य मूल स्त्रोत ईरान के उत्तर और भारत के उत्तर पश्चिम में स्थित (रूसी) मैदानी क्षेत्रों में हैं।

इस मत की पुष्टि हाल ही में हुई भाषा विज्ञान की खोजों से भी होती है। पहली खोज तो यह है कि ऋग्वेद के लगभग चार प्रतिशत शब्द भारतीय आर्य (संस्कृत) शब्द संरचना से मेल नहीं खाते, बल्कि बृहत पंजाब की किसी स्थानीय भाषा से आदान में लिए गए प्रतीत होते है। वह भाषा मध्य तथा पूर्वी भारत की मुंडा तथा मेघालय की खासी भाषाओं से अभिन्न तो नहीं है परंतु उनके निकट अवश्य है। दूसरी खोज का संबंध ऋग्वेद तथा जोराष्ट्री का मूल ग्रंथों में समान रूप से आदात उन शब्दों से है जो कृषि उत्पाद, पशु और घरेलू सामग्री से जुड़े हुए हैं। इनके प्राचीनतम पुरातात्विक प्रमाण बैक्ट्रीया-मार्गियाना से उपलब्ध हुए हैं। इन अवशेषों को 2100-1700 ई.पू. में रखा गया है। इन शब्दों में अन्य शब्दों के साथ ऊंट (उस्ट्र/उष्ट्र), गधा (खर/क्षर) तथा ईटें (इस्टका/इष्टीया/इष्टुवा)

भी हैं। यह प्रमाण इस बात का संकेत देता है कि ईरानी और भारतीय आर्यों ने इन शब्दों का उस समय आदान किया जब वे इस क्षेत्र से होते हुए अपने परवर्ती आवास की तरफ गए थे। तीसरी खोज का संबंध उन भारतीय आर्य आदात शब्दों से हैं जो उत्तरी ईराक और सीरिया की 1400 ई.पू. की आर्येतर मितानी भाषा में मिले हैं। इन आदात शब्दों में ऋग्वेद में उपलब्ध रूपों की अपेक्षा कुछ प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के रूपों की झलक मिलती है। यह प्रमाण भी एक कारण है जिसकी वजह से भारतविद् ऋग्वेद की रचना को द्वितीय सहस्राब्दी के उत्तरार्द्ध में रखते हैं।

यह प्रमाण और इन जैसे अन्य प्रमाण भी यह दर्शाते हैं कि राजाराम का यह दावा कि प्रौढ़ हड़प्पा संस्कृति के लोग "उत्तर वैदिक", संस्कृत बोलते थे जो वैदिक सूत्रों की भाषा थी तथा जिसका काल ई.पू. प्रथम सहस्राब्दी का उत्तरार्द्ध है। यह काल स्वीकृत धारणा से कम से कम 2000 वर्ष हट कर है। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि प्राचीन वैदिक संस्कृत जो कि ऋग्वेद की भाषा है और पर्याप्त परवर्ती है तथा जो स्थानांतरित आर्य जनजाति (कबीलों) के द्वारा बृहत्तर पंजाब में धीरे-धीरे प्रविष्ट हुई थी - इस भाषा के बोलने वालों के कुछ साहसी पूर्वज हड़प्पा में रहते रहे हों। ये प्राचीन भारतीय आर्य भाषा भाषी हड़प्पा सभ्यता के कस्बों और शहरों में अन्य निवासियों के साथ घुल मिल गए हों जो संभवतः इसी प्रकार बहुभाषी थे जिस प्रकार बहुभाषी थे जिस प्रकार भारत के आधुनिक नगर हैं (वास्तव में ऋग्वेद के आदात शब्द अनेक अंतःस्तरीय भाषाओं की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं)। परंतु सभी हड़प्पा निवासी या उनका कोई भाग परवर्ती वैदिक संस्कृत बोलते रहे हों, यह मानना एकदम हास्यास्पद है।

परंतु यह प्रमाण उसी भाषा विज्ञान से संबंधित है जैसे राजाराम खुद "तुच्छ काल्पनिक मिथ्याविज्ञान" कहते हैं। इस प्रकार विज्ञान को पूर्ण रूप से नकार कर उन्होंने भारतीय इतिहास को अपनी सनक के अनुसार रचने की स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है।

व्यंजनों का महत्व नगण्य और स्वरों का शून्य

राजाराम और झा के अनुसार, सिंधु सभ्यता की लेखन पद्धति प्राथमिक आक्षरिक पद्धति थी, जो संभवतः एक जटिल प्राक् सिंधु "चित्रात्मक" चिन्हों की पद्धति (जो अब लुप्त हो चुकी है) से विकसित हुई थी। हड़प्पा के चिन्हों की बहुलता के सामने, जिनको 400 से 800 तक गिना गया है, उन्होंने बहुत थोड़े से चिन्हों के उपवर्गों को चुना है और उन्हें वे अक्षरों के चिन्ह मानकर पढ़ते हैं। इन चिन्हों का चयन उन्होंने इन परवर्ती भारतीय लिपियों की पूर्वज ब्राह्म लिपि के अक्षरों से तथाकथित समरूपता के आधार पर किया है। (यही लिपि थी जिसको 250 ई.पू. में अशोक ने अपनाया, जिसे झा की 1996 में प्रकाशित पुस्तक लगभग ई.पू. 1500 में रखती है!) यद्यपि भारतीय शब्दों की ब्राह्मी स्वनिक है परंतु इस के विपरीत झा तथा राजाराम द्वारा कल्पित अक्षर बहुत ही दोषपूर्ण, केवल व्यंजनों से निर्मित, थोड़े से संख्यावाचक और कुछ विशेष उद्देश्यों के सूचक चिन्ह हैं। छोड़ दिए गए सैंकड़ों "चित्रात्मक" चिन्ह प्रायः एक शब्द के बोधक हैं। फिर भी

जहां कहीं भी आवश्यकता हुई - और यह बात संख्यांकों बारे में भी लागू होती है - उन चिन्हों को कल्पित स्वनिक मूल्यों के अनुरूप प्रयुक्त कर लिया गया है जिससे राजाराम और झा को लिपि पठन में खुली छूट मिल गई है। झा और राजाराम ने मात्र एक वास्तविक "स्वर" माना है जो ताश के पत्तों के जोकर के समान किसी भी आद्य स्वर के लिए - जैसे कि अग्नि और इंद्र में (अ तथा इ के लिए) - तथा कभी-कभी अर्ध स्वर के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। शब्दों के मध्यवर्ती स्वर तो मनमाने ढंग से कल्पित किए गए हैं।

कुछ पुरानी सेमेटिक लिपियों में स्वरों की कमी थी। परंतु सेमेटिक भाषाओं में बहुत कम स्वरों की आवश्यकता होती है जबकि भारत की संस्कृत और मुंडा जैसी भाषाएं स्वरों की दृष्टि से अधिक समृद्ध हैं। वैदिक संस्कृत के लिए कोई भी लेखन पद्धति जिसमें स्वरों की कमी है इतनी अस्पष्ट होगी कि वह एकदम अनुपयोगी हो जाएगी। उदाहरण के रूप में झा और राजाराम द्वारा निर्मित काल्पनिक पद्धति में सिंधु लिपि का अनुमानिक 'क' चिन्ह का, कि, कु, के, को आदि तथा केवल अकेले व्यजन 'क' का प्रतीक भी हो सकता है। ऐसी लिपि असंख्य वैकल्पिक पाठों का द्वार खोल देती है।

यदि झा और राजाराम के अनुसार यह मान लिया जाए कि हड़प्पा की भाषा उत्तर वैदिकी थी तो हम देखेंगे कि म्. न् दो साधारण अक्षरों का उत्कीर्ण लेख निम्न रूप में अनेक प्रकार से पढ़ा जा सकता है: मन (आभूषण); मनः (मन) क्योंकि राजाराम विसर्जनीरय के इच्छानुसार प्रयोग की आज्ञा देता है: मना (उत्साह या एक माप); मनु (मनु); मान (सम्मति या भवन या विचारक); मीन (मछली); मीने (मछली में); मीनौ (दो मछलियां); मीनै (मछलियों के साथ); मुनि (मुनि या ऋषि); मृण (मिट्टी से निर्मित); मेना (पत्नी); मेनि (प्रतिशोध); मेने (उसने सोचा है); मौन (चुप रहना) आदि।

हड़प्पा की लिपि की दिशा

हड़प्पा की लिपि को संस्कृत के सांचे में जबरन ठूंसने की उनकी कोशिशों में, राजाराम और उनके सहयोगी हड़प्पा के अभिलेखों के बारे में अनेक ज्ञात तथ्यों की अवहेलना करते हैं। प्रमाणों से अत्यधिक स्पष्ट विरोधों में से एक उनके इस दावे में मौजूद है कि अधिकतम केसों में लिपि संस्कृत की तरह बांए से दाएं पढ़ी जानी चाहिए।

पिछले सात दशकों में काफी प्रमाण इकट्ठे हो चुके हैं जो बताते हैं कि यह निष्कर्ष वास्तविकता के विपरीत है। वास्तव में सभी हड़प्पा के शोधकर्ता कुछ बातों में से जिस एक पर सहमत हैं वह है लिपि का प्रायः दाएं से बाएं-दिशा में लिखा होना। पुरानी लिपियों में लेखन की दिशा विभिन्न संदर्भों में प्रायः भिन्न होती थी, परंतु अनेक प्रकार के प्रमाण यह संकेत देते हैं कि हड़प्पा की लिपि 7 प्रतिशत से भी कम अभिलेखों में दाएं से बाएं की पद्धति से अलग रही है।

इस के कुछ प्रमाण बरतनों के टुकड़ों पर पाए अभिलेखों के अध्ययन से प्राप्त हुए हैं। जैसा कि बी.बी. लाल ने 1960 के दशक में प्रदर्शित किया है, उन अभिलेखों में एक के ऊपर दूसरी लाइन का परीक्षण दिखलाता है कि वह

लिपि साधारणतया दांएं से बाएं उत्कीर्ण की गई थी। दूसरा प्रमाण अप्रशिक्षित दृष्टि को भी साफ नजर आता है। यहां हम अस्को परपोला और उसके सहयोगियों द्वारा संकलित 'कॉर्पस ऑफ इंडस सील्स एंड इंस्क्रिपशन्स' के चित्रों में से दो उदाहरण देते हैं। इन दोनों के प्रमाण 1930 के दशक के शुरू से ज्ञात हैं।

एक प्रकार के प्रमाण का संबंध अक्षरों में अंतर से है। दिखाए मुद्रांक M-66a (परपोला के संख्या का उपयोग करते हुए) अनेक उदाहरणों में से एक हैं जहां उत्कीर्णकर्ता द्वारा मुद्रा को उत्कीर्ण करते हुए अक्षरों के लिए जगह कम पड़ गई जिस कारण उन्हें बाईं ओर अक्षरों को इकट्ठा करना पड़ा। मुद्रा में "बर्तन की आकृति वाले अक्षर के लिए कोई भी जगह नहीं बची जो प्रायः लेख के अंत में पाया जाता है। इस कारण उत्कीर्णकर्ता इस अक्षर को बाकी अभिलेख के नीचे बाएं छोर पर लिखने के लिए विवश हो गया। राजाराम और झा के दावे के अनुसार यदि यह अक्षर "बर्तन का चिन्ह" अभिलेख के शुरू का अक्षर जोकर वर्ण होता तो इसके यहां लिखने के संबंध में सोचा भी नहीं जा सकता था।

दूसरा प्रमाण नीचे दिखाई गई परपोला की मुद्रा में दिखाई पड़ रहा है। असाधारण रूप से लंबा यह अभिलेख इस मुद्रा के तीन तरफ लिखा है। इसमें अक्षरों का ऊपरी सिरा मुद्रा के निकटतम किनारे की तरफ संकेत करता है। इससे संकेत मिलता है कि अभिलेख के तीनों भागों को पढ़ने के लिए मुद्रा को हाथ में घुमाना होता था। अभिलेख का केवल ऊपरी भाग ही अक्षरों से पूरा भरा गया है जो यह दर्शाता है कि यह पहली लाइन है। इसलिए अभिलेख को दाएं से बाएं पढ़ा जाता था और शेष भाग को देखने के लिए मुद्रा को घड़ी की सुइयों के समान दक्षिणावर्त घुमाया जाता था।

और अधिक प्रमाण शुरू के तथा अंतिम अक्षर चिन्हों के क्रम के अध्ययन से, संयुक्त चिन्हों की पुनरावृत्ति के अध्ययन से तथा अन्य साक्ष्यों से मिलता है। 1931 में जी.सी. गैड से लेकर 1996 में ग्रैगरी पौशल तक फैली शोधकर्ताओं की एक लंबी परंपरा द्वारा इन प्रमाणों पर विचार किया गया है। इसमें से एक भी प्रमाण का उल्लेख राजाराम एवं झा की पुस्तक में नहीं किया गया है।

इस प्रकार के और भी तथाकथित सिद्धांत हैं। अनेक चिन्ह *समान* ध्वनि के बोधक हैं जबकि इसके विपरीत वही चिन्ह *भिन्न-भिन्न* ध्वनियों के बोधक भी हैं। चार सौ से आठ सौ तक के चिन्हों में से कुछ के मनमाने चुनाव से असीम रचनाओं की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। जैसा कि राजाराम ने पूर्ण गंभीरता से कहा है कि हड़प्पा की लिपि "अनघड़, पर सुलभ लिपि है"। इस प्रकार के सिद्धांत "इसके लेखकों को अनेक उपाय उपलब्ध करवाते हैं जिनके माध्यम से उन्हीं ध्वनियों को प्रकट किया जाता है और शब्दों को भिन्न प्रकार से लिखा जाता है।" ये सारी बातें ऐसे वस्तुनिष्ठ तथ्यों के रूप में एवं तथाकथित वैज्ञानिक ढंग से कही गई हैं जिस से उस व्यक्ति को जो विशेषज्ञ नहीं है, यह आभास तक नहीं होता कि उसको बहकाया जा रहा है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पहले सोच लें कि क्या पढ़ना चाहते हैं और फिर रिक्त स्थानों की पूर्ति कर दें। इस प्रकार की ही भाषावैज्ञानिक चालाकी के संबंध में संभवतः वाल्टेयर ने कहा था कि "व्यंजनों का महत्व नगण्य है और स्वरों का कुछ भी नहीं।"

लेखन की दिशा पर कुछ पथ प्रदर्शन ताश के जोकर के समान प्रयुक्त स्वर चिन्ह से मिल जाता है जो राजाराम के अनुसार लेख के प्रारंभ में आता है। "यही कारण है कि सिंधु मुद्राओं पर अनेक संदेशों में यह स्वर चिन्ह प्रथम अक्षर के रूप में प्रयोग किया गया है।" परंतु झा और राजाराम जिसे स्वर (या अर्धस्वर) बताते हैं वह वास्तव में हड़प्पा का "किनारेदार पात्र है अथवा U आकृति का चिन्ह है। यह लिपि का सबसे अधिक प्रचलित चिन्ह है जो कुछ गणनाओं के अनुसार ज्ञात लेखों में लगभग 1400 बार प्रयुक्त हुआ है। यह प्रायः लेखों के बाईं ओर मिलता है।

पीछे 1960 के दशक में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के भूतपूर्व महानिदेशक बी.बी. लाल ने आंशिक रूप से इस बात का अध्ययन करते हुए कि किस प्रकार मृदभांडों पर एक दूसरे को काटते हुए अक्षर उत्कीर्ण किए गए थे, विश्वसनीय रूप से यह दर्शाया था कि हड़प्पा की लिपि सामान्य रूप से दाएं से बाईं ओर पढ़ी जाती थी। इस धारणा की पुष्टि करता हुआ इस से भी अधिक ठोस प्रमाण 1930 के दशक के प्रारंभ से ज्ञात रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि अधिकांश स्थलों पर U चिन्ह उत्कीर्ण लेख का *अंतिम* चिन्ह है। परंतु इस संबंध में भी अनेक अन्य स्थलों के समान राजाराम और झा ने सुस्थापित तथ्यों की एकदम अवहेलना की है क्योंकि वे हड़प्पा की लिपि को उत्तर वैदिक संस्कृत से जोड़ने के लिए उसे बाईं से दाईं ओर पढ़ने पर उतारू है।" (अनेक बार व्याख्या की आवश्यकता के अनुसार पढ़ने की कोई भी दिशा, जिस में लेख को ऊपर से नीचे या एक लाइन को छोड़कर टेढ़ी-मेढ़ी विधि से पढ़ा जा सकता है, अपना ली गई है।) उन की पद्धति के अद्भुत लचीलेपन का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार के कथनों से हो सकता है:

सबसे पहले, यदि शब्द स्वर से प्रारंभ होता है तो उत्पादक (जेनेटिक) चिन्ह को उचित स्वर का मूल्य देना चाहिए। फिर, मध्यवर्ती व्यंजनों को उनके साथ ठीक स्वरों का प्रयोग करते हुए उचित रूप देना चाहिए। और अंत में अंतिम अक्षर को भी प्रकरण के अनुसार सुधार लेना चाहिए। अंतिम संदर्भ में छूटे हुए विसर्ग या अनुस्वार जोड़ देने चाहिए। यद्यपि ये प्रायः निर्दिष्ट हैं।

शंकालु यह पूछ सकता है कि अनेक संभावनाओं में से आप कैसे ठीक शब्द छांट सकते हैं। इस समस्या के समाधान के लिए कुछ वैदिक निपुणता अपेक्षित है।

संदेहों की निवृत्ति के लिए विवश होकर पाठक को वैदिक भाषा और साहित्यिक संदर्भ के ज्ञान पर निर्भर होना पड़ता है। उदाहरण के लिए जब सामान्य संयुक्त अक्षर र+क का प्रयोग किया जाए तो प्रकरण यह निश्चित करता है कि इस का उच्चारण र्क होगा (जैसे अर्क में) या क्र होगा (जैसे कि क्रम में)।

राजाराम के अनुसार रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए पाठक द्वारा प्रयुक्त प्रकरण वह है जिससे उत्तर वैदिक संस्कृति और सिंधु सभ्यता में संबंध (चाहे काल्पनिक ही सही) दिखाया जा सके और इसके लिए कोई भी पाठ उचित

होगा। उदाहरण के लिए जब आप एक बार ताश के जोकर के समान स्वरों का मनमाने ढंग से प्रयोग करते हैं तो कोई भी रक या कर मेल जोड़ आपको तुरंत हड़प्पा का घोड़े का खेल दिखा देता है जिस से आप वैदिक-हड़प्पाई घोड़ा, (उनके द्वारा स्वीकृत अर्क 'सूर्य' = 'घोड़ा', इस समीकरण को याद करते हुए) प्राप्त कर लेते हैं, उस काल से भी बहुत पहले जबकि यह शब्द या पशु भारत में प्रकट हुआ था।

क्या कारण है कि सिंधु सभ्यता के विद्वानों ने जिन्होंने अक्षरों का आविष्कार किया, सारे मौलिक स्वर चिन्हों को, सम्मिलित नहीं किया (जैसा कि अशोक की लिपि में हैं) जिससे कि सारी शंकाएं निवृत्त हो जातीं? निश्चित रूप से इसका कारण भाषिक ज्ञान का अभाव नहीं है क्योंकि राजाराम यह कहते हैं कि हड़प्पा के लोग "व्याकरण, ध्वनि विज्ञान तथा निर्वचन (निरुक्त) के संबंध में उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान रखते थे" - ठीक उसी प्रकार जैसे कि उन्हें सब प्रकार के आधुनिक ज्ञान की शाखाओं का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त था। परंतु स्वरों का ज्ञान निस्संदेह राजाराम को हड़प्पा के उत्कीर्ण लेखों में वैदिक संपदा प्राप्त कर लेने के अवसरों से वंचित कर देता है, इन उत्कीर्ण लेखों में वे घोड़े चुराने वालों से लेकर ऋग्वेदकालीन राजाओं और उच्चकोटि के गणितीय सूत्रों को भी ढूंढ निकालते हैं।

आश्चर्य है कि झा और राजाराम एक ओर तो स्वर चिन्हों की कमी मानते हैं, दूसरी ओर वे विशेष चिन्हों की भरमार स्वीकार करते हैं जिनका संबंध उच्चस्तरीय व्याकरणिक विवरणों से है जिनमें शब्द के अंत में (विसर्जनीय और अनुस्वार भी हैं। यदि वे नहीं हैं तो उन्हें तुरंत लगाया जा सकता है)। इसी श्रेणी में क्रियापदों के अंत में लगने वाला विशेष 'ते' प्रत्यय (विभक्ति) और नामपदों के अंत में लगने वाला 'सु' जैसा प्रत्यक्ष भी है। इन सब को पाणिनि व्याकरण से लिया गया है। परंतु उन्हें उनके रचना काल से 2000 वर्ष पूर्व का दिखाया गया है। इतना ही नहीं उन्होंने पाणिनि के गुण और वृद्धि जैसे स्वन प्रक्रियात्मक चिन्ह (यानी, उ को ओ तथा औ) तथा वैदिक सुरों के चिन्ह भी ढूंढ निकाले हैं।

यद्यपि लिपि में स्वर नहीं हैं, परंतु ऐसे चिन्ह मौजूद हैं जो स्वर संधियों पर लागू होते हैं। स्वरों के अभाव में स्वर संधि की कल्पना एकदम विचित्र बात है।

सौ कोलाहली कौवे

यह स्पष्ट है कि राजाराम और झा की पद्धति इतनी लचीली है कि इससे आप किसी भी उत्कीर्ण लेख से मिथ्या वैदिक पाठ निकाल सकते हैं। इस सारी स्वछन्दता के बावजूद वे हमें कैसे रंग बिरंगे पाठ दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त इनका कोई पाठ ऐसा नहीं है जिसका सिंधु सभ्यता से कोई संबंध हो।

सिंधु मुद्राओं का प्रयोग किसलिए होता था? हमें पता है कि कुछ (बहुत कम) व्यापारिक माल की गांठों पर लगाई जाती थीं तथा बहुत सी संभवतः ताबीज अथवा परिचय पत्र के रूप में डोरियों में लटका कर ले जाई जाती थीं। जब उनकी आवश्यकता नहीं रहती थी तब उनमें से बहुत सी गलियों में खो जाती थीं या कूड़े की तरह बाहर फैंक दी जाती थीं। कभी-कभी समान उत्कीर्ण लेखों का पूरे का पूरा सैट हड़प्पा संस्कृति के किले की दीवारों पर पड़ा पाया गया है।

अपने स्वाभाविक दम्भी तरीके से राजाराम और झा सारे सुविदित पुरातात्विक प्रमाणों की उपेक्षा करते हैं और दावा करते हैं कि ये उत्कीर्ण लेख प्राचीन निघंटु शब्द सूची जैसे वैदिक ग्रंथों के कोषों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहां तक कि इनमें शुल्व सूत्रों के गणितीय सूत्र भी मिलते हैं। उनके अनुसार हड़प्पा संस्कृति की मुद्राओं का मुख्य उद्देश्य "वैदिक ज्ञान और उससे संबद्ध विषयों का परिरक्षण था"।

लिपि के लगभग 5000 वर्षों के इतिहास में कितने व्यापारियों ने अपनी मुद्राओं एवं प्रमाणित चिन्हों पर गणितीय सूत्र लिखवाने की सोची होगी अथवा कौन ऐसे होंगे जो निम्न लिखित नारों को अपने गले में लटकाएंगे?

"यह वर्षा ऋतु हैं", "जाड़े की चपेट में घर", "कुत्ता जो घर में रहता है और कुछ नहीं करता किसी काम का नहीं - जिसको राजाराम और झा ने वैकल्पिक रूप से इस प्रकार पढ़ा है "कुत्ते के मुख पर कच्चा मांस है"; "पूर्वी देश के पक्षी", "वह जो जौ का पानी पीता है", "सौ कोलाहली कौवे", "मच्छर"; "एक क्रुद्ध व्यक्ति का निःश्वास", "राम ने अग्नि बाण के प्रयोग की धमकी दी", "एक क्रोधी सास", "जो अपने आप को पापीपन से मारने के लिए तत्पर हैं वे कहते हैं"; और सबसे बढ़िया, स्फूर्तिदायक लोकवादीः "अरे ऋण दाता, खा (अपना ब्याज)!"

अब तो हम अनेक घोड़ा पाठों की आशा करते हैं और हम निराश भी नहीं है! पर हमें आश्चर्य है कि हड़प्पा के लोगों के लिए ऐसे मुद्रा लेखों का क्या उपयोग था?

"घोड़ों द्वारा पीने योग्य पानी", "घोड़ों को रखने वाला (पैद्व), नाम से वर्सरात"; "अस्त्र गौर नाम अश्व पालक घोड़ों को पालना चाहता है", "दो घोड़ों के मालिक के लिए भोजन", "अर्ची जिस ने आठ खुले घोड़ों को काबू किया"; आदि आदि।

सबसे विस्तृत घोड़ा हड़प्पा संस्कृति के नगर ढोलावीरा की दीवारों पर लटके एक वृहदाकार "सूचना पट्ट" के सबसे अधिक प्रसिद्ध सिंधु अभिलेखों में दिखाई देता है। "पठित" अभिलेख, "हड़प्पा में घोड़ा नहीं है", इस तर्क पर एक और चोट है।

"मेरे घोड़ों के धन को चाहने वाले लालची आक्रांताओं पर मैं हजारों बार विजयी हुआ।" अंत में, झा और राजाराम के पाठक उनकी सारी पुस्तक में केवल एक "पठित" संदेश से संभवतः सहमत होंगेः अप-यसो ह महात् "वास्तव में एक बहुत बड़ी बदनामी।"

वैदिक संस्कृत?

समाप्त करने से पहले, हम यह बताना चाहेंगे कि जो पंक्ति हमने अभी उद्धृत की है उसमें प्रारंभिक व्याकरण की अशुद्धि है - 'महत्' को 'महात्' पढ़ना। इस प्रकार की अशुद्धियों की आवृत्ति लेखकों की वैदिक भाषा के ज्ञान (अथवा अज्ञान) के स्तर के संबंध में बहुत कुछ कह देती है। कुछ आकस्मिक उदाहरणः

- उनकी पुस्तक के पृ. 229 पर हमें *अदम* ("खा") रूप मिलता है। पर *अदम* कौन सा रूप है? क्या यह अदमः "हम खाते हैं," है? अधिक से अधिक अद्म का अर्थ "भोजन" है न कि "खा"।

- पृष्ठ 235 पर *तूर्ण उग्र स्वस्त्रूः* रूप है। इस उक्ति में स्त्रीलिंग विशेषण नहीं है (तूर्णा, उग्रा) जैसा कि क्रुद्ध "सास" के साथ अपेक्षित हैं (*श्वश्रूः* पढ़ें)।
- पृ. 230 पर हमें *अप्वा-हता-तमाहुः* पाठ मिलता है जिसमें *हतात्मा* का अर्थ "जिस की आत्मा मार दी गई है" अथवा "मारे हु (व्यक्ति) की आत्मा" हो सकता है, परंतु "वे जो अपने आपको मारने के लिए तत्पर हैं" नहीं हो सकता। उसी वाक्य में *अप्वा* का अर्थ "पापीपन" (जो वस्तुतः एक अवैदिक अवधारणा है) नहीं है। अपितु इसका अर्थ "*घातक भय*" है।
- पृ. 232 पर हमें *अमाशैत्यापो* मिलता है, जिसका संभावित अर्थ, जाड़े की चपेट में घर" किया गया है। परंतु *अमा* (स्पष्टतः जैसी कि उनकी इच्छा है, न कि *अम* 'बल') शब्द "घर" के लिए नहीं है, अपितु यह क्रिया विशेषण है जिसका अर्थ है "घर पर"। शैत्य "जाड़ा" उत्तर वैदिक" नहीं है अपितु परवैदिक है, जिसके कारण यह पाठ पुस्तक में दिए हुए अन्य पाठों की अपेक्षा और अधिक काल भ्रामक बन जाता है।
- पृ. 226 पर अश्व पालकों के उल्लेख वाले अनुच्छेद में "घोड़ों" के लिए पैदू का प्रयोग मिलता है। परंतु वैदिक साहित्य में यह शब्द सामान्य घोड़े के लिए नहीं अपितु एक पौराणिक घोड़े के लिए प्रयुक्त होता है।

1996 में प्रकाशित झा की पुस्तिका में इस प्रकार की अनेक अशुद्धियां मिलती है। फिर भी राजाराम ने झा को विश्व के अग्रगण्य वैदिक विद्वानों तथा पुरालिपिवेत्ताओं में घोषित किया है। इनमें से किसी भी अशुद्धि के लिए बेचारे हड़प्पा लिपिकारों को दोष नहीं दिया जा सकता।

इतिहास और हिंदुत्व का प्रचार

वैसे तो सिंधु लिपि के छल को विश्व में कृत्रिम बोध से लेकर ईसाई धर्म एवं सिंधु संस्कृति तक, सबका विशषज्ञ होने का ढोंग करने वाले एक भूतपूर्व इंजीनियर की निरापद कल्पना हंसी में टाल देने को मन करता है। परंतु जो इस पठन को झुठलाता है वह है राजाराम का घृणित संदेश जिसे वह लाखों भारतीय पाठकों तक ले जाना चाहते हैं। यह संदेश मुसलमान विरोधी है, ईसाई विरोधी है, भारतीय विद्या विरोधी है और (किए गए दावे के विपरीत) घोर विज्ञान विरोधी है। ये विचार भारत के अतीत की छवि को तोड़ मरोड़ कर पेश करते हैं और आधुनिक दौर में भयंकर हानि पहुंचाने की क्षमता रखते हैं।

राजाराम की कृति भारतीय इतिहास में व्यापक प्रतिक्रियावादी झुकाव की केवल एक मिसाल है। इस प्रकार के आंदोलन कई बार निकट से देखने की बजाय दूर से अधिक साफ नजर आते हैं। और हम इस लेख को बाहर से ही सही परंतु अभिरुचिपूर्ण दृष्टि से कुछ टिप्पणी के साथ समाप्त कर रहे हैं।

पिछले कुछ दशकों से भारतीय लेखकों का एक मुखर एवं स्वार्थी समुदाय, जिन में से न के बराबर ही इतिहस की विधि में प्रशिक्षित हैं परंतु जो एक दूसरे की रचनाओं का समर्थन करते रहते हैं, यह समुदाय एक नये प्रकार के इतिहास को प्रचारित कर रहा है। उनका इरादा है कि भारत के इतिहास को राष्ट्रवादी तथा धार्मिक दृष्टि से पुनः लिखा जाए। परंपरागत मूल्यों पर आए आधुनिक खतरों से भ्रमित नए मध्यमवर्ग में उसके लेखन के प्रति विशेष आकर्षण है।

उसके आंदोलन को शक्तिशाली राजनैतिक शक्तियां बड़ी चिंताजनक गति से समर्थन दे रही हैं। इससे उसे एक सम्मानजनक मुखौटा मिल जाता है जिसका यह हकदार नहीं है।

इसमें शक नहीं कि भारतीय इतिहास के सभी पक्षों का निरीक्षण बार-बार किया जाना चाहिए। परंतु कोई व्यापक संशोधन नए प्रमाणों की खोज से ही पैदा होने चाहिए, न कि राष्ट्रीय अथवा सांप्रदायिक अहंकार को किसी भी कीमत पर उभारने की इच्छा से। कोई भी नये ऐतिहासिक सिद्धांत सभी उपलब्ध तथ्यों से मेल खाने चाहिये जिन्हें संकीर्ण क्षेत्रीय दुराग्रहों से मुक्त होकर जांचा गया हो।

प्रचलित "संशोधनवादी" सिद्धांत सुपरिचित तथ्यों को नकारते हैं। यह पद्धति घोड़े के रथ को उसके आविष्कार से हजारों वर्ष पूर्व ले जाती है। वे ऐसे विशाल लुप्त साहित्य की कल्पना करते हैं जो ऐसे "वैज्ञानिक" ज्ञान से भरा हो जो प्राचीन दुनिया में कहीं भी अकल्पनीय है। वे ऋग्वेद को सुदूर असंभव अतीत में ले जाते हैं और उसे नगरीय अथवा समुद्री व्यापारिक वातावरण में संकलित मानते हैं जिसका उस ग्रंथ में कहीं कोई संकेत मौजूद नहीं है। वे वैदिक संस्कृत या आद्यभारोपीय भाषाओं के पंजाब या उत्तर भारत में कहीं पैदा होने की कल्पना करते हैं जब कि 150 वर्षों के प्रमाणों से यह निश्चित हो चुका है कि "भारत के बाहर" के ये अतिवादी प्रचारक भारत तक की कट्टरवादी कल्पना इस रूप में करते हैं कि वह तमाम सभ्यताओं का उद्गम है, भारत को, जो प्राचीन सभ्यताओं का उद्गम है। वे ऐसे सभी सुझावों को हिकारत से अस्वीकार कर देते हैं, जिन के अनुसार लोग, भाषाएं या तकनीकी ज्ञान कभी विदेशों से प्राक्-ऐतिहासिक भारत में कभी प्रविष्ट हो सकता है, मानो "विदेशी" की आधुनिक परिकल्पना का प्राक-ऐतिहासिक काल के लिए कोई अर्थ है।

विडंबना यह है कि प्रव्रजन के विरुद्ध इन विचार व्यक्त करने वालों में से कई, जैसे एन.एस. राजाराम, एस. काक तथा एस. कल्याणरमन जैसे इंजीनियर और तकनीकीविद् स्वयं प्रवासी है और संयुक्त राज्य के तट से अपने विचार भारत के लिए लादते रहते हैं। देश में पले-पोसे राष्ट्रवादियों की व्यापक श्रेणी में, जिनमें विश्वविद्यालय के प्रोफेसर, बैंक कर्मचारी एवं राजनीतिज्ञ शामिल हैं, (जैसे एस.एस. मिश्रा, एस. तलगेरी, के.डी. सेठना, एस.पी. गुप्ता, भ. सिंह, एम. सेंदगे, भ. गिड़वाणी, पी. चौधरी, ए. शौरी, एस.आर. गोयल) भी उन्हें मित्र मिल जाते हैं। उन्हें पश्चिम में भी कुछ थोड़े से 'न्यू एज' के लेखकों में या उन शोधकर्ताओं में जो विद्वता की मुख्यधारा से बाहर हैं, मुखर अनुयायी मिल गए हैं। इनमें डी. फ्रॉले, जी. फ्यूअरस्टाइन, के. क्लोस्टरमायर तथा के. एल्स्ट शामिल है, पूरी की पूरी प्रकाशन कंपनियां जैसे 'वॉएस ऑफ इंडिया' तथा 'आदित्य प्रकाशन' इनके विचारों को प्रचारित करने के प्रति समर्पित हैं।

इतिहास के पुनर्लेखन का कोई सर्वसम्मत विश्वव्यापी मानदंड नहीं है। परंतु किसी भी ऐसे व्यक्ति से जो अपनी विद्वत्ता को गंभीरता से लिये जाने की आकांक्षा रखता है कुछ अपेक्षाएं अवश्य रखनी होंगी जो इस छोटी सूची में शामिल हैं:

1. प्रमाणों के प्रयोग में पारदर्शिता
2. सुस्थापित तथ्यों के प्रति सम्मान

3. सभी संबद्ध क्षेत्रों की सामग्री के साथ तुलना करने की इच्छा तथा
4. निष्कर्ष निकालने में धार्मिक एवं राजनैतिक कार्यक्रम से स्वतंत्रता।

एन.एस. राजाराम "संशोधनवादी" आंदोलन का निकृष्ट नमूना हैं और सभी मदों पर स्पष्ट तौर पर असफल हैं। 'दि डिसाईफर्ड इंडस स्क्रिप्ट' घोर बनावटी तथ्यों ('मसलन अश्वमुद्रा', 'लिपि पठन' में स्वच्छंदता) पर आधारित है जो अनेक जाने-पहचाने तथ्यों (घोड़ों और रथों की तिथियां, हड़प्पा की मुद्राओं का उपयोग इत्यादि) की अवहेलना करती है; पूरे वैज्ञानिक क्षेत्र के प्रमाणों को अस्वीकार करती है, जिसमें भाषा विज्ञान भी शामिल है (जो भावी पुरालिपि पाठक के लिए एक विचित्र किस्म का नकार है।); और हड़प्पा तथा वैदिक संस्कृतियों के बीच असंभव रिश्तों के दावे करती है जो स्पष्टतया धार्मिक और राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित हैं चाहे वे कुछ भी आडंबर रचें, राजाराम जैसे हिंदुत्व के प्रचारक का वैध ऐतिहासिक विमर्श के क्षेत्र से कोई संबंध नहीं है। वे विकृत, अर्द्ध-आधुनिक ढंग में मध्य-कालीन प्रवृत्ति को बनाए रखते हैं। धार्मिक ग्रंथों की प्रामाणिकता को समर्थन देने के लिए हर संभव तरीका इस्तेमाल करते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में वे राष्ट्रीय अहंकार को बढ़ावा देने के लिए इतिहास का मिथ्याकरण करते हैं। जातीयताओं के क्षेत्र में दूसरे हिस्सों की कीमत पर वे भारत के एक हिस्से का ही गुणगान करते हैं।

सभी गंभीर शोधकर्ताओं की यह जिम्मेदारी है कि ठोस प्रमाणों के एकमात्र उपलब्ध कारगर हथियार से इन प्रवृत्तियों का विरोध करें। यदि भारतीय इतिहास लेखन में प्रतिक्रियावादी रुझान को अधिक राजनैतिक समर्थन मिलेगा तो हम आने वाले दशकों में विगत दिनों जैसी की फासीवादी हिंसक की पुनरावृति को देखने का खतरा मोल लेंगे।

राजाराम जैसे लेखकों की ऐतिहासिक कल्पना को बेनकाब करना जरूरी है जो प्राक्-वैज्ञानिक मस्तिष्क के भद्दे कोनों से निकला हुआ प्रचार मात्र है। अधिकतम अविश्वसनीय कल्पनाओं में से कई सर्वोच्च प्रशिक्षण प्राप्त इंजीनियरों की उपज हैं। इस सच्चाई से भारतीय शिक्षा के परियोजकों को गहरी चिंता होनी चाहिए।

हाल ही में 'आन लाइन' संपर्क में राजाराम ने अपनी नकली "अश्व मुद्रा" की आलोचना को टाल दिया है और डींग मारते हुए कुछ प्रतिष्ठित राजनैतिक मित्रों की तरफ इशारा किया है कि संघीय सरकार ने पिछले दिनों, "नेशनल बुक ट्रस्ट" को मेरी लोकप्रिय पुस्तक, 'फ्रोम सरस्वती रिवर टू दि इंडस स्क्रिप्ट' को अंग्रेजी और 13 अन्य भाषाओं में प्रकाशित करने के लिए सलाह" दी है।

हमें भारत और निष्पक्ष विद्वानों के बारे में भय है। राजाराम के हड़प्पा-वैदिक पठन को अंतिम बार उद्धृत करते हुए कहना होगा, "कितनी बेशर्मी है!"

अनुवादः **प्रो. सूरज भान** और **डा. बलदेव सिंह**

हड़प्पा, समानांतर दीवारों" का क्षेत्र, आर्क्योलूजीकल सर्वे ऑफ इंडिया के सौजन्य से, पंजाब फोटोग्राफिक वॉल्यूम 463/86

मैके 453 का "अश्व मुद्रा" में रूपांतरण करते हुए राजाराम का "कम्प्यूटर परिवर्धन", ।

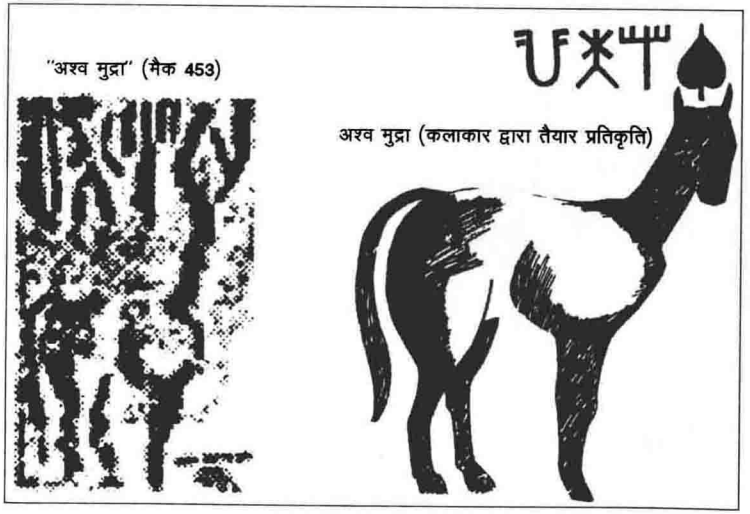

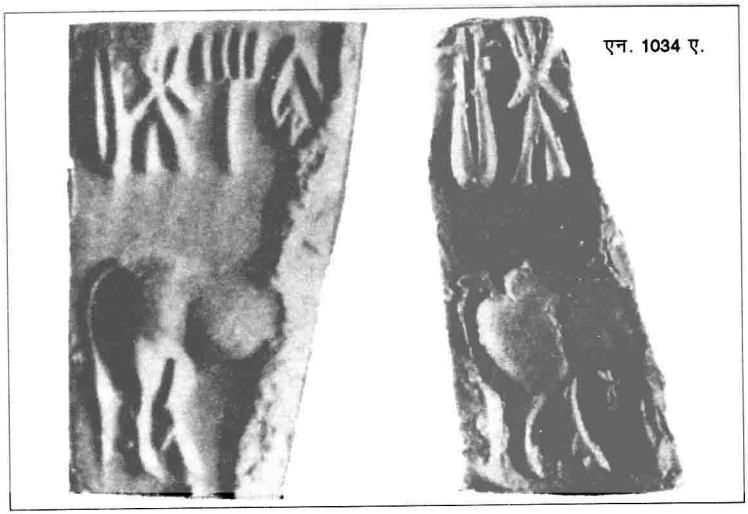

मैके 453, राजाराम द्वारा "कम्प्यूटर परिवर्धन" से पूर्व मूल तस्वीकर को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि वह मुद्राक टूटा हुआ था।

जैसे कि उनके समान पुरातत्व के फील्ड नंबरों (D.K. 6664) से पता चलता है (कॉपर्स ऑफ इंडस सील्स एंड इंसक्रिप्शन्स, वॉल. II, 1991) कि एम-772 ऐ मौलिक मुद्रा हैं 'इससे सात दशक पहले मुद्राक (मैके 453) बनाई गई जिसे राजाराम "अश्व मुद्रा" कहते हैं।

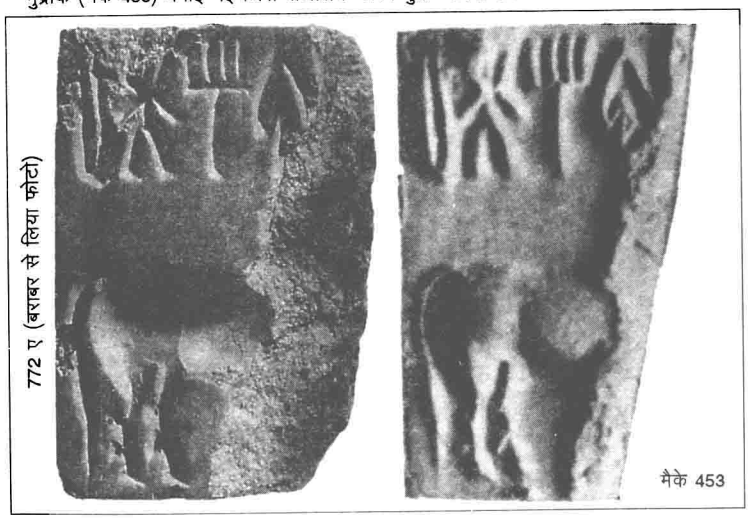

बाएं ओर, मैके 453 का राजाराम द्वारा 'कम्प्यूटर परिवर्धित' चित्र; मूल चित्र में किसी वस्तु की तरफ संकेत करता हुआ तीर का निशान। दाईं ओर, मोहन्जोदड़ों से प्राप्त ताम्र प्लेटों पर टेलीफोर जैसा 'खाने की नाद' (feeding trough) दिलाते हुए।

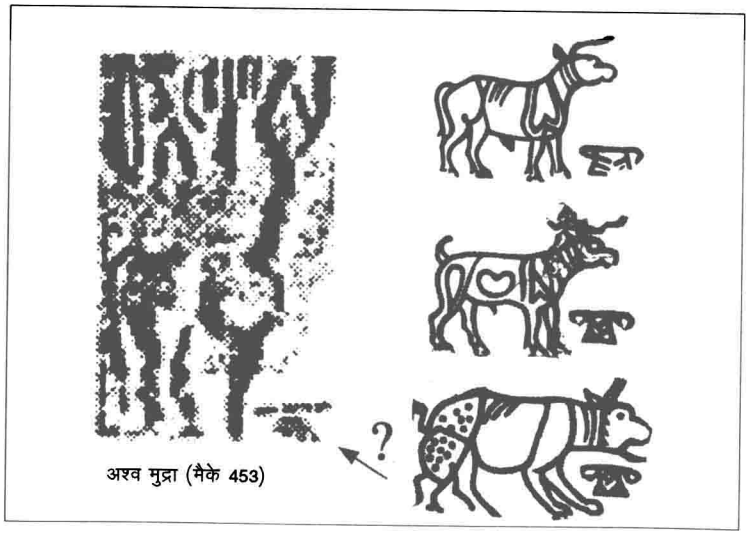

एम-66 ए

एच-103 ए

संदर्भ (This link no longer available)

1. यू.एन.आई की विज्ञप्ति के लिए देखें - http://www.indiaserver.com/the hindu/1999/07/12/stories/02120001.htm. जो हम ने नीचे दिया है उसके अनुसार राजाराम ने अपनी विचित्र पद्धति के अनुरूप मीडो द्वारा खोजे प्राचीन अभिलेख की जगह बी.बी.सी. के रिपोर्टर द्वारा गलती से छापे एक भिन्न बर्तन के टुकड़े के फोटो से गलत पहचान कर अध्ययन किया है। राजाराम की इस विफलता की कहानी को उसके संदर्भ में देखिए - **http://www.safarmer.com/meadow.html.**
2. एन.झा एंड एन.एस. राजाराम, *दि डिसाईफर्ड इंडस स्क्रिप्टः मेथोडोलॉजी, रीडिंग्स, इंटरप्रेटेशन्स*, आदित्य प्रकाशन, न्यू देहली, 2000, पृ. XXVii. 269, Rs. 950.
3. *जनरल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज* 13, 1997, पृ. 308-15, में मीडो और पटेल द्वारा बोकोनेयी के कार्य पर टिप्पणी देखिए.
4. अन्य सामग्री के संदर्भ में "अश्व मुद्रा" का असली रूप दिखलाने वाली मौलिक कहानी के लिए देखिए **http://www.safarmer.com/horseseal/update.html.**
5. भाषाई विवरण के लिए देखें - एम. वित्जेल, "प्राचीन भारोपीय भाषा में अधःस्तर (ऋग्वैदिक, मध्य एवं उत्तर वैदिक)", इलैक्ट्रोनिक जर्नल ऑफ वैदिक संस्कृत, वॉल. 5 (1991) इशु. 1 (सितंबर), पी.डी.एफ. आकार में **http://www1.shore.net/~india/ejvs/ejvs0501/ejvs0501article.pdf.** और दि बुक रिव्यू वॉल. XXIV जनवरी - फरवरी; 2000, पृ. 17-20 को देखें।

Graphics source credits:

M-1034a, Vol. 2 of A. Parapola's photographic corpus (**)=DK 5582, Mohenjo Daro Museum 778, P 694; photographed by S.M. Ilyas. Courtesy Department of Archaeology and Museums, Government of Pakistan.

M-772A, Vol. 2 (**), DK 6664, Mohenjo Daro Museum 742, JL 884; photographed by Jyrki Lyytikka. Courtesy Department of Archaeology and Museums, Government of Pakistan.

M-595a, Vol. 2 (**), HR 460 Ia, Lahore Museum, P-1815; photographed by S.M. Ilyas. Courtesy Department of Archaeology and Museums, Government of Pakistan.

M-66a, Vol.1 (*). HR 5629, ASI 63.10.371, HU 441; photographed by Erja Lahdenpera. Courtesy ASI, Government of India

H-103a, Vol.1 (*), 2789, ASI 63.11.116, HU 601; photographed by Erja Lahedenpera. Courtesy ASI, Government of India.

(*) Jagat Pati Joshi & A. Parpola, *Corpus of Indus Seals and Inscriptions 1. Collections in India*, Helsinki 1987.

(**) Sayid Ghulam Musafa Shah & A. Parapola, *Corpus of Indus Seals and Inscriptions 2, Collections in Pakistan*, Helsinki 1991.

All other photographs are from N. Jha and N.S. Rajaram, *The Deciphered Indus Script*, cited earlier, except for the three animals on the right in the photograph, which are taken from John Marshall, *Mohenjo-Daro and the Indus Civilization*, Vol. III, Plates CXvii-Cxviii, London 1931.

किस्सा हड़प्पा में घोड़े की खोज का

हिंदुत्व और इतिहास

रोमिला थापर, प्रसिद्ध इतिहासकार

उन्नीसवीं सदी के आखिर में "आर्य" ने एक ऐतिहासिक श्रेणी का रूप ले लिया। एक नस्ल के रूप में और एक भाषा के रूप में **आर्य** की धारणा के बीच काफी मतिभ्रम था। वास्तव में जन मानस में यह मतिभ्रम अब तक पूरी तरह से दूर नहीं हो पाया है। भारतीय इतिहास पर इस धारणा के व्यवहार में यह तर्क प्रस्तुत किया जा रहा था कि ऋग्वेद में **आर्यों** का जो जिक्र आया है, वही आर्य थे जिन्होंने बाहर से हमला किया था तथा उत्तरी भारत को जीता था, भारतीय सभ्यता की शुरूआत की थी और अपनी **भा-आर्य** भाषा को फैलाया था। इस विचार का तुरंत असर पड़ा था, खासतौर पर उन लोगों पर जिनके अपने राजनीतिक एजेंडे थे और इतिहासकारों पर।

ज्योतिबा फुले का कहना था कि आर्यों के हमले की धारणा से इसकी व्याख्या हो जाती है कि विजातीय ब्राह्मण कैसे आए और कैसे उन्होंने प्रभुत्व कायम किया तथा निचली जातियों का दमन किया। इतिहास की इस दृष्टि के लिए आक्रमण का सिद्धांत जरूरी था। दूसरी ओर हिंदुत्व की विचारधारा से जुड़े लोगों के लिए, आक्रमण के सिद्धांत का खंडन जरूरी था। सावरकर ने हिंदू की जो परिभाषा दी थी, उसमें उसके हिसाब से भारत का उसकी **पितृभूमि** होना भी जरूरी था ओर **पुण्यभूमि** होना भी। इसलिए, हिंदू को बाहरी आक्रमणकारियों की संतान कैसे माना जा सकता था? चूंकि हिंदू सीधे खुद को आर्यों की संतान दिखाना चाहते थे और सांस्कृतिक विरासत के दावेदार थे, आर्यों को स्वदेशी होना ही चाहिए था। हिंदू की उक्त परिभाषा मुसलमानों तथा ईसाइयों को स्वदेशी के दायरे से बाहर कर देती थी, क्योंकि उनके धर्म का उदय भारत में नहीं हुआ था।

इतिहासकारों ने शुरू में आक्रमण का सिद्धांत मान लिया था और कुछ ने तो यह तर्क भी प्रस्तुत किया था कि सिंधु सभ्यता के शहरों का पराभव आर्यों के आक्रमण के चलते ही हुआ था, हालांकि इसके लिए पुरातात्विक साक्ष्यों से इंकार किया जा रहा था। बहरहाल, आगे चलकर आक्रमण के इस सिद्धांत को त्यागकर वैकल्पिक सिद्धांतों को स्वीकार किया जाने लगा कि किस तरह, **भा-आर्य** भाषा का इस उप-महाद्वीप में प्रवेश हुआ था।

1968 में भारतीय इतिहास कांग्रेस के एक अधिवेशन में मैंने यह विचार

प्रस्तुत किया था कि आक्रमण की बात साबित नहीं होती है और भा-आर्य भाषा आगमनों की शृंखला के साथ आयी होगी और इस तरह जनगणों के संस्कृति-संक्रमण के अनेकानेक मार्ग सक्रिय हुए होंगे। ऐतिहासिक रूप से प्रासंगिक प्रश्न आर्यों की पहचान का नहीं है (पहचानें कभी स्थायी नहीं होती हैं) बल्कि प्रासंगिक प्रश्न यह है कि किसी दौर में भाषाएं व संस्कृतियां क्यों और कैसे परिवर्तित होती हैं।

तब क्या वजह है कि हिंदुत्व के सिद्धांतकार, जिनमें भारतीय तथा अभारतीय सब आते हैं, एक खत्म हो चुकी बहस को ही आगे धकेलने में लगे रहते हैं और कहीं हाल के वैकल्पिक सिद्धांतों पर विचार ही नहीं करते हैं? उनकी नजरों में विकल्प एक ही हो सकता है - आर्य अगर हमलावर नहीं थे, तो जरूर वे स्वदेशी रहे होंगे। उनकी इसमें कोई दिलचस्पी ही नहीं है कि हमलावर या स्वदेशी के इन दो छोरों के बीच भी, बहुत सारी संभावनाएं हो सकती हैं। आर्यों के स्थानीय मूल का आग्रह उन्हें इसका दावा करते रहने का मौका देता है कि आज के हिंदू, आर्यों की ही संतान हैं और इतिहास के शुरू से ही इस धरती के वारिस हैं। लेकिन, इसके लिए तो यह जरूरी हो जाता है कि आर्यों की उपस्थिति को पीछे खिसकाकर प्राचीनतम इतिहास तक ले जाया जाए। इसीलिए, भाषाविज्ञान व पुरातत्व के प्रबल साक्ष्यों के विरुद्ध यह साबित करने की कोशिश की जाती है कि ऋग्वेद के रचियता ही सिंधु के नगरों के लोग थे या संभवतः उनसे भी पहले के लोग हों।

उन्हें एक ही साबित किया जाता है ऋग्वेद में मिलने वाले शब्दों को, सिंधु सभ्यता के नगरों में मिलने वाली वस्तुओं से जोड़ने के जरिए। वे यह मानने को तैयार ही नहीं होते हैं कि एक ओर ऋग्वेद का गांव-आधारित, पशुपालक समाज और दूसरी ओर सिंधु के नगरों का जटिल शहरी समाज, एक कैसे हो सकते हैं? यही नहीं ऋग्वेद में और यहां तक कि उत्तर-वैदिक साहित्य में भी नगर के कोई विवरण नहीं हैं, जिन्हें सिंधु सभ्यता के शहरों पर लागू किया जा सकता हो। उनमें चबूतरों पर बने निर्माणों का या मार्गों के संजाल का तथा जल-मल की निकासी की सुव्यवस्थित ढ़ंग से निर्मित प्रणाली का, अन्न के कोठारों का, भंडारग्रहों तथा सधन दस्तकारी उत्पादों वाले क्षेत्रों का, मोहरों तथा उनके उपयोग का और उन स्थानों के नामों का जहां मालों को भेजा जाता था, कोई जिक्र ही नहीं मिलता है। अगर ये दोनों समाज एक ही थे, तो इन दोनों प्रणालियों में कम से कम समानताएं तो होनी चाहिए।

यह साबित करने के लिए कि सिंधु सभ्यता, आर्यों की ही थी, सिंधु सभ्यता की भाषा की संस्कृत के एक रूप के तौर पर पहचान किया जाना जरूरी है और उसमें आर्यों की उपस्थिति का साक्ष्य खोजा जाना जरूरी है, जिसे इस समय घोड़े तथा रथ से जोड़ा जा रहा है। सिंधु सभ्यता की भाषा को पढ़ने की कोशिशें अब तक सफल नहीं हुई हैं और उसे संस्कृत के रूप में पढ़ने की कोशिश करने वाले भी उतने ही विफल रहे हैं। फिर भी किसी भाषा के पढ़े जाने में, कुछ भाषाशास्त्रीय नियमों का तो पालन करना ही होता है। इसलिए, यह जरूरी हो जाता है कि इस तरह का कोई भी दावा भाषाशास्त्रीय विश्लेषण की परीक्षा में अपनी सत्यता साबित करे। इसके साथ ही, किसी भी भाषा के इस तरह के पाठों

में कुछ संदर्भगत निरंतरता होना भी जरूरी है। एन झा और एन एस राजाराम ने अपनी किताब *द डिसाइफर्ड इंडस स्क्रिप्टः मैथडालोजी, रीडिंग्स, इंटरप्रेटेशन्स* (आदित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000) में सिंधु सभ्यता की भाषा को खोज निकालने का जो दावा किया है, उक्त कसौटियों पर खरा नहीं उतरता है।

राजाराम की तरह यह दावा करना कि एक खास मुहर पर अंकित आकृति घोड़े की ही है, पहले ही निष्कर्ष से तर्क निकालने की कोशिश है। यह इसका दावा करना है कि घोड़ा सिंधु सभ्यता में महत्वपूर्ण था और इससे यह सिद्ध होता है कि वह आर्य सभ्यता ही थी। उक्त मुहर के कंप्यूटर संवर्धित चित्र में, उसे घोड़े जैसा दिखाने के लिए जो परिवर्तन किए गए हैं उनके अलावा भी, मोहर के चित्र में दिखाई दे रहा पशु घोड़ा किसी भी तरह नहीं है। (देखिण, मिशेल वित्जेल तथा स्टीव फार्मर का लेख, *"हॉर्स प्ले इन हड़प्पाः द इंडस वैली डिसाइफरमेंट होक्स"*, ***फ्रंटलाइन***, 13 अक्टूबर 2000)। इतना ही नहीं, अगर घोड़ा सिंधु सभ्यता के केंद्र में रहा होता, जैसे कि वैदिक साहित्य के केंद्र में दिखाई देता है, तब तो घोड़े को चित्रित करने वाली और भी कितनी ही मोहरें होनी चाहिए थीं। लेकिन, सबसे बड़ी संख्या तो ऐसी मोहरों की ही है जिन पर एक श्रंगी वृषभ अंकित है।

हिंदुत्व की विचारधारा के परिप्रेक्ष्य से भारतीय इतिहास में ऐसे विचार फिर से लाए जा रहे हैं, जिन्हें कब का छोड़ा जा चुका है और अतीत को समझने के लिए कोई खास प्रासंगिकता नहीं रखते हैं। जिस तरह जानकारियों को जोड़-गांठ कर रखा जा रहा है और जिस तरह उनके आधार पर सामान्यीकरण किए जा रहे हैं, वे इतिहास के समकालीन इतिहास में उपयोग लाए जाने वाले विश्लेषणों की परीक्षा में खरे नहीं उतर सकते हैं। इन विचारों के हिसाब से इतिहास के पुनर्लेखन का उद्देश्य, अतीत पर प्रकाश डालना नहीं है बल्कि आज के राजनीतिक लक्ष्यों के लिए, अतीत से एक अपेक्षाकृत आसान वैधीकरण हासिल करना है। पहचान से हिंदुत्व की ग्रस्तता, कोई भारत के प्राचीन इतिहास से जुड़ी समस्या नहीं है बल्कि समकालीन राजनीति में पहचानों को अपने हिसाब से संचालित करने की कोशिश से पैदा हो रही है। फिर भी, उनकी यह विडंबना है कि ऐसा तभी किया जा सकता है जब इतिहास की तमाम मौजूदा व्याख्याओं को बदल दिया जाए और हिंदुत्व के विचारधारात्मक खांचे में फिट होने पर मजबूर कर दिया जाए। मौजूदा संकेतों के हिसाब से तो इसका अर्थ होगा अंध-मतवाद पर आधारित इतिहास जिसमें फार्मूलाबद्ध जवाब होंगे, ऋजु रेखीय व्याख्याएं होंगी और किसी तरह की बौद्धिक खोजों की जगह नहीं होगी। कठमुल्लावादी दावेदारी, जिसमें वैकल्पिक विचारों के लिए कोई जगह ही न हो, अक्सर एक हीनभावना से और बहस के भय से पैदा होती है। इसीलिए, उनकी जिद है कि इतिहास के ऐसे ग्रंथों का प्रकाशन ही न होने दिया जाए, जो हिंदुत्व की विचारधारा से मेल नहीं खाते हैं।

इतिहास का जो रूप हिंदुत्व के सिद्धांतकारों द्वारा उभारा जा रहा है, जोकि पाठ्य पुस्तकों के जरिए बच्चों को पढ़ाया जा रहा है और शोध संस्थाओं पर थोपा जा रहा है, साक्ष्य तथा व्याख्या की किसी भी खुली बहस के लिए दरवाजे बंद कर देता है। उसमें ऐतिहासिक विश्लेषण की उन नई पद्धतियों का लेश मात्र

भी नहीं मिलेगा, जिनका अब ऐतिहासिक शोध के केंद्रों में उपयोग किया जा रहा है। इस तरह के इतिहास को तो हिंदुत्व सिद्धांतकार पश्चिमी, साम्राज्यवादी, मार्क्सवादी या ऐसा ही कुछ भी कहकर खारिज कर देते हैं, लेकिन वे खुद नहीं जानते हैं कि इन लेबलों का अर्थ क्या है या संबंधित अध्ययनों की प्रकृति क्या है? न तो इतिहासकारों तथा पुरातत्वविदों के लिए आवश्यक तकनीकी प्रशिक्षण की जरूरत की कोई पहचान है और न ही ऐतिहासिक व्याख्या के लिए आवश्यक समाज विज्ञानों की पृष्ठभूमि की जरूरत की। इंजीनियर, कंप्यूटर विशेषज्ञ, पत्रकारिता पलट राजनीतिज्ञ, भारत विद्या के विद्वान होने का स्वांग भर रहे विदेशी पत्रकार, आदि आदि, यह मानकर चल रहे हैं कि उनके मुंह से जो भी निकलेगा सच ही होगा और पुरातत्व तथा इतिहास के संबंध में अपने फैसले सुना रहे हैं। और मीडिया उन्हें हाथों-हाथ ले रहा है।